

1

2

3

॥ श्री ॥

१९६० ई.
हि. ३४

संक्षिप्त

जैनधर्म-प्रकाश

जैनों जाने जैन ने, जिन न जाना जैन ।

जे-जे जैनों जैन जन, जाने निज निज नैन ॥

-भैया भगवताश्रम

३०९२

प्रचारक :-

डा० धर्मचन्द्र धुपावन

महं कीर्तिलाल

बनारस ।

— — —

वी० न० २१७७

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—नम्र निवेदन	
२—बागह भावना	
३—वर्तमान काल और धर्म	१
४—जैन-धर्म और अहिंसा	४
५—म्यादाद	६
६—विश्वधर्म और जैन	१५
७—जैन-दर्शन	१६
८—आवक तथा साधु	२३
९—विद्वानों के मन	२४
१०—उपयोगी शिक्षण	२७
(परिशिष्ट)	२९
१—निष्फलता	३०
२—जैन-धर्म	
लेखक—पूज्य श्री १०८ आचार्य विशालंकार	३१
श्री हांगचन्द मूरिजी महागज काशी ।	
३—शिक्षा	३८
४—जैन धर्म की रूपरेखा	
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जैनधर्म के प्रोफेसर	
पद पन्नालाल जी शास्त्री काठ्यनोथ	३८

नम्र निवेदन

समय परिवर्तनशील है। अतः कोई भी पदार्थ संसार में अपनी एक-सी स्थिति बनाए नहीं रह सकता। भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रचलित, भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा प्रवर्द्धित और भगवान् महावीर द्वारा प्रचारित हमारे जैनधर्म की भी ऐसी ही दशा है। आदि तीर्थङ्करों की बातों को तो जाने दीजिए। केवल अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर को ही लीजिए। भगवान् महावीर ने संसार को समता का पाठ पढ़ाया, जीवमात्र के साथ मैत्री करना सिखाया, ज्ञान गुण को आत्मा का निज रूप बनाया एवं रागद्वेष को संसार-बन्धन का कारण भी बनाया था। इसलिये भगवान् की व्याख्यान-सभा में परस्पर विरोधी जीव सामूहिक शान्ति का अनुभव कर आपसी वैर विरोध आदि को भूल गए थे और यही खाम कारण है कि भगवान् की दिव्य पताका की शरण लेकर आत्मानुभव तक करते थे। उस समय का जैन-समाज भारतवर्ष में अपना एक खाम व्यक्तित्व रखता था। दया, अहिंसा, वात्सल्य आदि गुणों ने संसार में ऐसी धाक जमा रखी थी कि भारत के व्यापार में, व्यवहार में, और परोपकार प्रवृत्त आदि सभी में जैनों सबसे प्रमुख माने जाते थे। इसका मुख्य कारण हमारा उस समय में सामूहिक संगठन था और भगवान् महावीर के ज्ञान का पूर्ण आशय हम अपने हृदयों में अपनाए हुए थे। यही मुख्य कारण है कि हमारी सहानुभूति जीवमात्र से है। किन्तु दुर्भाग्य से आज समय ने

मेमा पल्टा म्याया है कि जो हमारे भाई थे वे भी हमारे न रहे । आज के दो हजार वर्ष पूर्व तक कलिगाधिपति महाराज स्वारवेल के जमाने में हमारी समाज की करोड़ों की जन-संख्या थी । आज पुरातन्त्र विभाग हमारी पुरातन सामग्री देखकर हमारी प्राचीनता और सांस्कृतिक शक्तियों का गीत गाते हुए भी नहीं अघाते और आज हम भगवान महावीर की उमरी विश्वहितायिणी पताका का आश्रय लिए हुए भी अपनी आपसी मर्लानता और विद्वेष भाव से संसार का आँखों में खटक रहे हैं । क्या यही भगवान की समस्या थी ? जो आज हमको तीर्थों के भगवों में, मूर्तियों की पूजा में, और तांत्रिक भाषणों में, पद-पद पर नजर आ रही है ? क्या यही हमारा विश्व बन्धुत्व का नमूना है ? जो आज हम चाँदह लाख की जन संख्या में रहकर भी अपना कोई स्थान भागत में नहीं रखते । हमसे हर तरह से पिछड़ा हुई अन्य समाजें तथा जातियाँ अपनी सद्दयता और सगठन का स्वाद लेकर अपना हर जगह प्रतिनिधित्व देखना चाहती हैं क्या भगवान ने यही हमको सिखाया था ? क्या हमारा यही ब्रह्मन्य है ? जो हमको भक्ति की प्रथम सड़क तक ले जावेगा ?

जैनबन्धुओं ! सोचो ' और खूब सोचो ' जो जैन-धर्म विश्व-धर्म कहलाता था, जिस धर्म की ध्वजा प्राणीमात्र को आश्रय देकर शान्ति और सद्गुण का पाठ पढ़ाती थी, आज उमरी पताका का आश्रय लिए हुए भी हमलोग दिगम्बर जैन, श्वेताम्बर जैन, स्थानकवासि जैन, तेरापंथी जैन आदि नामों से अपने फ़िरके बनाकर अपनी शक्ति को व्यर्थ बरबाद कर रहे हैं ।

आज भी व्यापारिक समाज में हमारा नाम और हमारी धाक है । हमारी सैकड़ों मिलें, कल-कारखाने और आदान-

प्रदान की बड़ी-बड़ी कोठियाँ भी हैं। पर बनलाइये तो आपके कितने कॉलेज चल रहे हैं, जिनमें भगवान् अपिभदेव, पार्श्वनाथ तथा महावीर की दिव्यवाणियो आदि का प्रचार हो रहा है ? आज कितने महाविद्यालय हैं, जो आप्ता के अनुभव करानेवाले सात तत्त्वों का एक परिभाषा में अध्ययन करा रहे हों। कौनसी ऐसी सोमाडटी है, जो हमार मामूहिक प्रतिनिधित्व प्राप्तीय असेम्बली या वन्दो धारासभा में करा रहा हो ?

क्या हमने विश्व के पुनर्निर्माण में हाथ नहीं बँटाया या भारत में उठनेवाले आन्दोलनों में अपनी पूर्ण शक्ति के अनुसार भाग नहीं लिया है ? फिर बनलाइए कि जैन-समाज का कौनसा प्रतिनिधि हमारे स्वार्थों का रक्षा में लगा हुआ है ? इसका मूल कारण आपसो मनमुटाव तथा अपने जैनधर्म के महान मित्रांतों के प्रति हमारी अज्ञानता ही है। जिस धर्म के नाम पर हमारा आपस में मनमुटाव है, उसी धर्म की रूपरेखा तथा विशेषता आदि को आज हम इस ध्यान से आपके करकर्मलों में समर्पित कर रहे हैं कि आप इसे पढ़ें, मनन करें और फिर अनुभव करें कि हम क्या आज वास्तव में जैनत्व के प्रतीक हैं ? यदि हमारे वन्दुआ ने भगवान् की दिव्यवाणी का कुछ भी भाग समझा और परम्पर के सङ्कटन की आवश्यकता का उन्होंने कुछ भी अनुभव किया, तो हम समझेंगे कि हमारा श्रम कुछ सफल हो गया—जैनधर्म के मुख्य-मुख्य 'वर्षों पर विचार करने के साथ-साथ इस पुस्तक में जैनधर्म का रेखाचित्र ज्येताम्बर समाज के ठोस विद्वान् विद्यालङ्कार आचार्य पूज्य श्रीहीराचन्द्र मूर्तिजी महाराज काशी और दिगम्बर जैन-समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा प्रोफेसर जैन-धर्म, 'काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय' धर्मालङ्कार पं० पन्नालाल

(घ)

जी शास्त्रों, वाच्यग्रन्थों के विचारों को सम्मिलित किया गया है। इन दोनों ही विद्वानों की धार्मिक रूपरेखा में किसी को किसी प्रकार की विभिन्नता प्रतीत नहीं हो रही है। हमका आशा है नहीं पूर्ण भरोसा है कि पाठक इसे पढ़कर लाभ उठाने का कष्ट करेंगे और इस प्रगतिशील जमाने में अपने सङ्गठन को अत्यावश्यक समझकर उसकी ओर अपना पूरा ध्यान देने की कृपा भी करेंगे। यदि समाज ने हमारी इस लुप्त सेवा को अपनाया तो हम भविष्य में पुनः इसी तरह का माहिस्य लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होने का माहस्य बराबर करने रहेंगे।

भवदीय

एक जैन नागरिक

बारह भावना

(भूधरदास)

(१)

राजा रागा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥

(२)

दलबल देई देवता, मात-पिता परिवार ।
मरनी बिगिया जीव को, कोई न राखतहार ॥

(३)

दाम बिना निर्धन दुर्गो, तृणावश बनवान ।
रुढ़ न मुख्य समार में, सब जग देखो छान ॥

(४)

आप अकलो अवनरै, मरै अकलो होय ।
य कबहुँ उस जीव का, साथी सगा न कोय ॥

(५)

जहा देह अपनी नहीं, तहा न अपनो कोय ।
पर सम्पति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय ॥

(६)

निपै चाम चादर मही, हाड़ पीजग देह ।
भीतर या सम जगत में, अबर नहीं बिन गेह ॥

(च)

(७)

मोह नीद के जोर, जगबामी घूमे मदा ।
कर्म चोर चहुँ ओर, सबस लुटे सुध नहीं ॥

(८)

मतगुरु देय जगाय, मोह नीद जब उपक्षमै ।
तब कछु बनहि उपाय, कर्म चोर आवत रुकै ॥

(९)

ज्ञान दीप तप तेल घर, घर शोधै भ्रम छोर ।
या बिध बिन निरमै नहा, पेटे पूरब चोर ॥

(१०)

पच महाव्रत सचरण, समिति पंच परकार ।
प्रथम पच इन्द्रो बिजय, धार निजंग मार ॥

(११)

चौदह राज उत्तम नभ, लोक पुरुष भटान ।
तमै जीब अनादि नै, भगमन है बिन ज्ञान ॥

(१२)

धन कल वञ्चन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान
दुर्लभ है संसार में, एउ जथाग्रह ज्ञान ।

(१३)

जाचे सुतरु देव सुख, चितन चिता रैन ।
बिन जाचे बिन चितये, धर्म मरुल सुख दैन ॥

वर्तमान काल और धर्म

बन्धुमहावी धम्म—जैनदर्शन

आज संसार में धर्म की जो छद्मालोचन हो रहा है, वह किसी से भी छिपा नहीं है। इस समय में संसारी मनुष्यों के पृथक्करण करने की हा। मनु यदि धर्म को मानें, तो भी अनुचित नहीं होगा। हिन्दू में वैष्णव-शैव, मुसलमानों में शीया-सुन्नी, जैन में दिगंबर-श्वेतांबर, बौद्धों में हानयान-महायान, ईसाइयों में कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट आदि विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं आदि की बातों को त्याग भाँदें और उनके मोटे-मोटे रूपों तथा भिदांतों की दृष्टि से उन्हें देखकर उनपर विचार करें, तो भी हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि संसार के सभी धर्मों के अनुयायी किसी भी दृष्टि से अपने-अपने धर्म के सिद्धांतों का अनुसरण नहीं करते। यही नहीं, उनकी दृष्टियों में ईश्वर, प्रभु, जिन, या भगवान कोई भी नहीं रह गए हैं। उनकी दृष्टियाँ स्वार्थी दिग्दर्श देने लग गई हैं। जिस समय में संसार में इसप्रकार का वायु-मण्डल का प्रवाह चल रहा हो, उस समय में हम जैन धर्मावलम्बी समाज के लिये भी क्या पूर्व निर्मित शाखा-प्रशाखाओं पर हो चिपटा रहना उचित है? इसी को यहाँ पर प्रकट करने के लिये कुछ लिखा जा रहा है।

धर्म का अर्थ इस समय में सत्य नहीं, स्वार्थ है या यों कहें कि वह मजहब जो इमान को बोध काने के लिये था, आज वह मतलब गौंठने की चीज बन गया है। इस समय में धर्म एक गूढ़ रहस्य है, एक बड़ी आड़ है, एक अच्छा पर्दा है, वहाँ बैठकर चाहे जितने पाप किए जा सकने हैं। उस बस्ती में गुनाहों की छुट है। बुरे-से-बुरे कर्म चाहे जितने किए क्यों न जाय, किन्तु धर्म का आँट लिए रहें, धर्म संरक्षकों, मठाधीशों, गुरुओं आदि को बराबर कुछ-न-कुछ भेंट दिए जाया करें, फिर क्या है देव द्वारा पर की गई हत्या तक कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म इस समय में सबसे बढ़िया हाजमा हो गया है। आज का समाज का पूरा-का-पूरा धर्मवाद रुढ़िवाद के रूप में दर्शन की केवल वस्तु रह गई है। काने के नाम पर वहाँ शून्य ही रहता है।

धर्म का वास्तविक अर्थ कर्तव्य है। किस कर्तव्य के लिये धर्म शब्द को तब आदि समय से प्रयोग करने में आता है, उसपर हमें कुछ लिखना अब आवश्यक जान पड़ता है। कर्तव्य तो कई प्रकार के हैं। सामाजिक कार्य, जिन्हें मनुष्य निम्न किया करता है, वह भी धर्म ही है। राजा या देश के प्रति भी मनुष्य कुछ कर्तव्य करता है, वह भी उसका धर्म ही है। पेट के लिये मनुष्य कुछ कर्तव्य करता है, वह भी उसका धर्म ही है आदि-आदि अनेकानेक कर्तव्य हैं, जो कि धर्म के अन्तर्गत में आ जाते हैं। फिर ऐसा कौनसा कर्तव्य है, जिसके करने-काने के लिये समाज में आदि से लेकर अब तक बराबर नानाप्रकार के धर्म सम्प्रदायों का जन्म हुआ है।

सभी धर्मों के धुरधर विद्वानों का ऐसा मत है कि प्रत्येक

मनुष्य सुख-प्राप्ति के लिये, प्राप्त सुख की वृद्धि के लिये, दुःख को टालने या कम करने के लिये सदैव कर्म किया करता है। पर जिस मार्ग से वह कर्म करता है, या कर्म जिन-जिन माग में पूरा किया जाता है, वही सम्प्रदायों की दृष्टि से धर्म हैं।

धर्म विज्ञान की दृष्टि से भी धर्म की व्याख्या करना भी इष्ट जान पड़ता है। ऐतिहासिक काल में कोई भी व्यक्ति धर्म' बिहीन था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इससे यह जरूर प्रमाणित हो जाता है कि धर्म सभी समय में आवश्यक तथा मुख्य अङ्ग के रूप में मनुष्यमात्र में स्वीकार करने में आया है। किन्तु अपने-अपने धर्म' के लिये सर्वोच्च समझनेवाले लोग सभी युगों में और अब भी मौजूद हैं किन्तु वहाँ धर्म सर्वश्रेष्ठ या सर्वोच्च गिना जाता है, जो कर्माटों पर जब कमा जाय और श्रेष्ठ निकले। इस कार्य के लिये हमने संसार तथा भारत के सुप्रसिद्ध विद्वानों के मतों को पुस्तक के अन्त में संग्रहित किए हैं, जिससे पाठक स्वयं ही समझ लेंगे कि धर्म की दृष्टि में जैनधर्म किस श्रेणी का है।

जयति रागादि दांपान् इति जिनः

अर्थात् राग-द्वेष का विजेता जिन कहलाता है और उसी को माननेवाला तब जैन हुआ। इसका तात्पर्य यह निकला कि जिस धर्म के मानने से राग द्वेष पर विजय प्राप्त की जा सके वही जैन धर्म है।

जैनधर्म और अहिंसा

भगवान् ऋषभदेव, भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महा-
वीर आदि हमारे पूज्य तीर्थङ्करों के उस महान् सिद्धान्त को हम
अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहते हैं, जिसे हम
जैन-धर्म का प्राण कह सकते हैं। वह है अहिंसा। जैन-धर्म के
सभी आचार-विचारों की नींव इसी अहिंसा-तत्त्व पर ही निहित
है। यों तो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध आदि जितने भी धर्म हैं,
सभी ने अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। किन्तु इस तत्त्व के
बारे में जितना विस्तृत, जितना सूक्ष्म और जितना गहन विवे-
चन जैन धर्म में करने में आया है, उतना गहन विवेचन आदि
भारतवर्ष के अन्य धर्मों के सिद्धान्तों में देखने या पढ़ने और
अनुभव करने में नहीं आता। जैन-धर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसा-
तत्त्व को उसकी चरमावस्था तक पहुँचा दिया है। उन लोगों ने
अहिंसा-तत्त्व का विवेचन ही केवल नहीं किया है, प्रत्युत उसे
आचरण में लाकर व्यावहारिक रूप तक दे देने की कृपा की
है। अन्य सभी धर्मों में वह केवल कायिक रूप बनकर ही
समाप्त हो जाता है। किन्तु जैन धर्म में 'अहिंसा-तत्त्व' उससे
बहुत आगे वाचिक और मानसिक रूप होकर आत्मिक रूप तक
चला जाता है। अन्य सभी धर्मों में अहिंसा की मर्यादा मनुष्य
जाति तक ही समाप्त हो जाती है अथवा यदि आगे बढ़ी, तो
पशु-पक्षियों के जगत में पहुँचकर समाप्त हो जाता है। किन्तु
जैन धर्म की अहिंसा की कुछ भी मर्यादा नहीं है। हमारे इस
धर्म की अहिंसा की मर्यादा में चराचर जीवों का समावेश हो

जाने पर भी वह अपरमित हो रह जाती है। जैनधर्म की अहिंसा की मर्यादा को यदि विश्व की तरह अमर्यादित तथा आकाश की तरह अनन्त भी कहें, तो अनुचित न होगा।

जैनधर्म के इस महान तत्व के यथाथ रहस्य को समझने-समझाने का प्रयास जैन-धर्मावलम्बियों में-से बिरलों ही ने किया है। संसार के बड़े-बड़े कितने ही धुरंधर विद्वानों की दृष्टि में हमारा यह अहिंसा तत्व अव्यवहार्य, अनाचरणीय, आत्म-घातकी तथा कायरतापूर्ण समझकर राष्ट्रनाशक तक कहने में आ रहा है। संसार के सभी लोगों के दिमागों में इस बात ने घर कर लिया है कि इसी अहिंसा तत्व ने ही भारत को कायर तथा निर्वीर्य तक बना दिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आधुनिक जैन-समाज में अहिंसा-तत्व का जिस रूप में देखा तथा माना जाता है, उससे वास्तव में वही प्रतिफल होना अनिवार्य भी है। जैनधर्म के अहिंसा-तत्व ने आधुनिक समय के जैन-समाज को अवश्य ही कायरता का रूप दिया है। जैनधर्म के वर्तमान अहिंसा के रूप का देखकर विद्वान लोग जैन-धर्म को यदि कायरता प्रधान धर्म कहते हैं, तो उनके लिये जैन समाज को दुखी होने का कोई भी कारण नहीं है।

जैन धर्म के अहिंसा-तत्व का वास्तविक रूप इस वर्तमान रूप से एकदम ही विभिन्न है। उसका वर्तमान रूप तो एकदम ही विकृत या बिगड़ा हुआ उसका रूप है। जैन-समाज इस समय में भारत की समृद्धिशाली स्थिति में रहकर भी जैन-धर्म के सिद्धान्त का दृष्टि में पतनोन्मुखी स्थिति को प्राप्त हो चुका है। उसके सारे सिद्धान्त माधु या यनि-समाज तक ही सीमित रह गए हैं। उनमें भी हाथी के दांतों की तरह खाने तथा दिखाने की दृष्टि से विभिन्नतावाले देखने में आते हैं। समाज में जब

कभी देवी संपद् का हास तथा आसुरी संपद् का आधिक्य होने लगता है, तब प्रायः सभी उत्कृष्ट तत्त्वों का इसी प्रकार विकृत रूप हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में जैन-समाज फिर किस प्रकार उससे अछूता रह सकता है।

जिस धर्म के अनुयायी इतने पराक्रमी, शूरवीर हो गए हैं और जिन्होंने देश को तथा राज्य को इतना समृद्ध आदि बनाया था, फिर उसी धर्म के प्रचार से देश या प्रजा कायर तथा पतनोन्मुखी किसी भी प्रकार नहीं हो सकती, जो इसको ऐसा कहते हैं, वे हमारे धर्म के इस तत्व की पूरी जानकारी नहीं रखते।

अहिंसा का अर्थ समझने के लिये हिंसा शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। 'हिंसा' शब्द हननाशक 'हिंसी' धातु पर से बना है। इससे 'हिंसा' प्राणी को मारने या सताने का भाव पकट होता है। भारतीय पुरातन ऋषि-मुनियों के मतानुसार 'हिंसा' शब्द का तात्पर्य 'प्राण वियोग-प्रयोजन व्यापार' अर्थात् 'प्राणी दुःख साधन व्यापारो हिंसा' है। इसी बात को अपनी आम बोलचाल की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राणी को प्राण से रहित करने के लिये अथवा प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट देने के लिये जो प्रयत्न या कार्य किया जाता है उसे हिंसा कहते हैं। इसके विपरीत किसी भी प्राणी या जीव को दुःख अथवा कष्ट न पहुँचाने को अहिंसा कहते हैं। सब प्रकार से, सभी समयों में, सभी प्राणियों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने को अहिंसा कहते हैं।

आत्मवत् सर्वाभूतेषु सुखः दुःखं प्रिया प्रिये ।

चिन्तय आत्मनोऽनिष्टां हिंसा मन्यस्य नाचरेन् ॥

—जैनाचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य

अर्थात् जिसप्रकार मनुष्यमात्र में प्रत्येक को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय लगना है, उसी प्रकार ही वह अन्य प्राणी को भी मालूम होता है। इस कारण हममें-से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि अपनी आत्मा की तरह ही दूसरों की आत्मा को समझकर उनके प्रति अनिष्ट करनेवाले कार्य न करना चाहिए।

इसी ज्ञान को ध्यान में रखकर भगवान् महाश्वर ने एक श्लोक इस प्रकार से लिखने की कृपा की है:—

मध्वे प्राणापिया उया, मुहसाया, दुह पडिकूना अप्पिय वहा ।
पिय जोविणो, जंवि उकामा, (तम्हा) एति वाएज्ज किचरणं ॥

अर्थात् सभी प्राणा का आयु प्रिय है। सभी सुख के अभिलाषी हैं। दुःख सबके पतिकूल है। सब मधका अप्रिय है। सभी जीने की इच्छा रखते हैं। इन कारण किसी को मारना, अथवा कष्ट पहुँचाना हा न चाहिए।

प्रश्न यहाँ पर अथ यह उठता है कि इसप्रकार की अहिंसा का पालन मनुष्य से ही ही नहीं सकता। कारण ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ पर जीव न हों। जल में, स्थल में, पर्वत का चोटी पर, अग्नि तथा वायु आदि सभी जगह समार में जीव भरे हुए हैं। इस कारण मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार में—खाना-पीना, चलना फिटना, बैठना उठना, व्यापार-विहार आदि में—जीव हिंसा होती ही है। इस कारण मनुष्य अपनी मारी क्रियाओं को ही यदि बन्द कर देवे, तभी वह उस प्रकार की हिंसा से बच सकता है जैसा कि करना मनुष्यमात्र के लिये असम्भव है।

जैनाचार्यों ने मनुष्य जाति को सोचा नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि उन्होंने इस अहिंसा को खूब अध्ययन आदि के बाद मनुष्य-प्रकृति के अनुकूल रूप देने का

कष्ट किया है। उन्होंने अहिंसा के कई भेद तक किए हैं। उन भेदों पर यदि ध्यानपूर्वक मनन करने का कष्ट उठाया जावे, तो बड़ी ही सुगमता से वे समझ में आ सकते हैं।

(१) संकल्पी हिंसा (२) आरंभी हिंसा (३) व्यवहारी हिंसा (४) विरोधी हिंसा।

संकल्पी हिंसा—किसी प्राणी को संकलर कर मारने के लिये संकल्पी हिंसा कहा गया है। जैसे आप बैठे हुए हैं और कोई चिउंटा जमान पर से जा रहा है, उसे केवल हिंसक भावना से जान-बूझकर मार डालना।

आरंभी हिंसा—गृहकार्य में, स्नान आदि के समय में, भोजन बनाने या घर में भाड़ बुहार देने तथा जल पीने में जो अप्रयत्न रूप में हिंसा हो जाती है; उसे कहा जाता है।

व्यवहारी हिंसा—व्यवहार में, चलने-फिरने में, जिस प्रकार की हिंसा होती है, उसे व्यवहारी हिंसा कहने में आता है।

विरोधी हिंसा—विरोधी अर्थात् दुश्मनों से आत्मरक्षा करने के लिये अथवा किसी आततायी से अपने राज्य, देश अथवा कुटुम्बों की रक्षा करने के लिये जो हिंसा करनी पड़ती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

इसके पश्चात् भी अहिंसा के जैनाचार्यों ने और भी भेद किए हैं। स्थूल अहिंसा, सूक्ष्म अहिंसा, द्रव्य अहिंसा, भाव अहिंसा, देश अहिंसा, सर्व अहिंसा आदि। उपरोक्त विभिन्न अहिंसा के भेदों में श्रावक (गृहस्थ) के द्वारा आचरणीय तथा साधु-मुनि द्वारा आचरणीय अहिंसा में भी भेद है। इसका विस्तृत विवेचन अन्य किस ग्रन्थ में किया जायगा।

स्याद्वाद

'अनेक मिष्ठान्तों का अवलोकन कर, उसके समन्वय (मिलाप) करने के लिये यह शब्द प्रकट करने में आया है। स्याद्वाद एकीकरण का दृष्टि-विन्दु हमारे सामने उपस्थित करता है। शङ्कराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किए हैं, वे मूल रहस्य के साथ में सम्बन्ध नहीं रखते। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-विन्दुओं द्वारा निरीक्षण किए बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण रूप में आ नही सकती। इसीलिये स्याद्वाद उपयोगी तथा सार्थक है। महावीर के मिष्ठान्त में बताया गए स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-विन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किम गति से अवलोकन करना चाहिए यह हमें सिखाता है।

—काशी हिंदू विश्वविद्यालय के भूतार्थ प्रो० बाइसबांसकर तथा संस्कृत-साहित्य के पुरश्चर विद्वान प्रो० आनन्दगिर बापुमाई धुर

जैन-तत्त्व-ज्ञान का प्रधान नींव स्याद्वाद पर ही स्थित है, ऐसा देश तथा विदेश के सभी विद्वानों ने एक मन से घोषित किया है। कुछ धर्मन्धर विद्वानों का तो यहाँ तक दृढ़ मन है कि इसी स्याद्वाद के ही प्रताप से भगवान् महावीर ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। जैन-तत्त्व-ज्ञान में स्याद्वादवाद का ठीक-ठीक क्या अर्थ है, उसका यथार्थ जानने

का दावा बड़े-बड़े धर्मग्रन्थ विद्वान तक नहीं कर सकते। फिर भी स्याद्वादवाद को यदि इस प्रकार से कहा जाय कि यह मानव बुद्धि के एकांगीपन को मूर्चित करता है, तो अनुचित नहीं कहा जायगा। जन्मांध जिस प्रकार हाथी की खोज करता है, ठीक वैसी ही हमारी इस दुनियाँ की भी स्थिति है। यह वर्णन यथार्थ नहीं है, ऐसा कौन कह सकता है? अपनी ऐसी स्थिति है, ऐसा जिसको समझ में आ जावे, बहो इन जगत में सर्वज्ञ या यथार्थ ज्ञानी माना या सम्माना जाता है। मनुष्य का ज्ञान एक पक्षी है, ऐसा जो समझे बहो सर्वज्ञ है। किन्तु बाल्मिकि में जो सम्पूर्ण मन्य है, उसे जो कोई -ानता होगा, उस परम त्मा को हम अभी तक पहचान नहीं सकें हैं। इसी ज्ञान में-मे ही अहिंसा का उद्भव हुआ है। सर्वज्ञ के बिना अन्य क्रिया पर अधिकार चलाया नहीं जा सकता। अपना मन्य अपने ही लिए काफ़ी है, अन्य को उसका साक्षात्कार न होने पावे, उस समय तक धैर्य रखना, इसी वृत्ति को अहिंसा वृत्ति कहने में आया है। सारी दुनिया शांति की खोज करता है। उन्म संसार त्रि-वर्ग कहकर पुकार करता है कि भी उसे शांति का मार्ग उपलब्ध नहीं होता। भारत की भूमि में इसी शांति का कभी का निश्चिन्त करने में आया है। किन्तु उस शांति के मार्ग को संसार का स्वाकार करने में अभी काफ़ी 'वन्धन' होने का आशा है। दुनियाँ जब तक निर्बिचार नहीं हो जाय, तब तक भगवान महावीर को पूर्णतावाले मार्ग को उपलब्ध करना नितांत ही कठिन है।

चाहे जो कुछ भी माना या कहा जावे, किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहना तथा मानना पड़ेगा कि जैन-धर्म का स्याद्वाद-दर्शन संसार के तत्त्वज्ञान में अपना एक स्वयं तथा निराला ही स्थान रखता है। स्याद्वाद का अर्थ होता है—वन्तु

का विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करना, देखना, या कहना । स्याद्वाद के भावार्थ में कुछ विद्वानों ने अपेक्षावाद का शब्द प्रयुक्त करने की कृपा की है । किसी एक वस्तु में अमुक-अमुक अपेक्षा (सम्बन्ध) से भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वीकार करने ही को स्याद्वाद का नाम दिया जाता है । उदाहरण-स्वरूप एक मनुष्य है । वह भिन्न भिन्न या अमुक-अमुक अपेक्षा या सम्बन्ध से पिता, पुत्र, चाचा, मामा, भतीजा, भांजा, पाति आदि माना जाता है । उसी दृङ्ग से ही एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्म माने जाते हैं । अब समझने-समझाने के लिये हम घड़े को लेते हैं । एक ही घड़ा (घट) है; उसमें नित्यत्व तथा अनित्यत्व आदि विभिन्न धर्म के दिखाई देनेवाले धर्मों को अपेक्षा-दृष्टि से स्वीकार करने ही के नाम को जैन दर्शन के मिद्धान्त में स्याद्वाद दर्शन का नाम देने में आया है ।

घड़ा का दृष्टान्त स्याद्वाद के समझनेवालों के लिये बड़ा ही युक्तियुक्त है । जिस मिट्टी से उस घड़े को कुम्हकार ने निर्माण किया है, उसी से ही उसने अनेक प्रकार के अन्य बर्तनों को भी तैयार किए होंगे । खैर, यदि उसी घड़े को फोड़कर वही कुम्हकार उससे और अन्य प्रकार का बर्तन तैयार कर लेवे, तो कोई भी उस नवीन तैयार किए गए बर्तन को घड़ा न कहेगा । वही मिट्टी और द्रव्य रहने पर भी घड़ा न कहने का फिर कारण क्या है ? उसका कारण तो यही है कि उस बर्तन का आकार-प्रकार घड़े का-सा नहीं है । इससे यह प्रमाणित होता है कि घड़ा मिट्टी का रहने पर भी उसका एक आकार-विशेष है । यहाँ यह ध्यान में रखना उचित है कि आकार-विशेष मिट्टी से एक-दम ही भिन्न नहीं हो सकता । एक ही मिट्टी आकार-परिवर्तन के जगिए घड़ा, नाद, सकोरा तथा मटका आदि के नामों से

सम्बोधित करने में आते हैं। इसप्रकार यह निर्विवाद है कि इसप्रकार जो भिन्न-भिन्न आकारवाले पदार्थ बने रहते हैं, वे मिट्टी से पृथक् नहीं हैं और वे ऐसे पृथक् हो भी नहीं सकते। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि घड़े का आकार तथा मिट्टी दोनों ही घड़े के रूप में मीग्ड हैं। अब यहाँ इस बात को देखना तथा समझना है कि इसप्रकार के पदार्थ के जो दो रूप होते हैं, उनमें विनाशी रूप कौनसा है और स्थायी कौनसा ? यह तो सभी को प्रत्यक्ष दिखाई या समझ में आ सकता है कि घड़ा का आकार-प्रकार ही विनाशी है। इसका कारण यह है कि वह फूटता है, जिससे उसका रूप आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और घड़े का जो दूसरा रूप मिट्टीवाना है, वह अविनाशी ही रहता है। क्योंकि उसका विनाश कभी भी नहीं होता। उसे जिस-किसी रूप में परिवर्तन क्यों न कर लिया जावे, किन्तु वह सभी स्थानों पर जाकर अपने मिट्टीपन को उसी रूप में कायम रखता है।

इसप्रकार के सारे विवेचन तथा कथन का एकमात्र लक्ष्य यह है कि ऊपर जो घड़ावाला पदार्थ हमने लिया था, उसके दो रूप थे—एक रूप विनाशी और दूसरा रूप अविनाशी। विनाशी को अनित्य तथा अविनाशी को नित्य की सज्ञा दर्शनवादियों ने दी है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु की निरन्तरता तथा अनित्यता प्रमाणित करनेवाले सिद्धान्त को स्याद्वाद कहने में आता है।

स्याद्वाद के सिद्धान्त को नित्य और अनित्य तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। सन् तथा असत् आदि रूपों में दिखाई देनेवाली बातें भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं।

इस बात को अनेकांत-जयपताका में जैन तत्त्व-ज्ञान के प्रकांड आचार्य श्री हरिभद्रपुरि ने इसप्रकार लिखा है:—

यतस्ततः स्व द्रव्यक्षेत्रकाल भावरूपेण सद वर्तते, पर-
द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण चासत् । ततश्च सत्त्वासच्च भवति ।
अन्यथा तदभाव-प्रसङ्गात् (घटादिरूपस्य वस्तुतोऽभावप्र-
सङ्गात्) इत्यादि ।

प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश तीन गुण हुआ करते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति या विनाश तो स्थूल रूप का हुआ करता है। सूक्ष्म परिमाण तो सदा स्थित रहते हैं। वे सूक्ष्म परिमाण अन्य वस्तुओं के साथ मिलकर नवान वस्तु को जन्म दिया करते हैं। जैसे सूर्य की किरणों की गर्मी से पानी तो सूख जाया करता है। किन्तु इससे यह समझ लेना कि पानी का ही एकदम अभाव हो गया, समझनेवाले की भारी मूर्खता है। पानी किसी-न किसी रूप में अवश्य ही मौजूद रहता है। ऐसा जरूर संभव है कि उसका सूक्ष्म रूप हमको दिखाई न पड़े। यह अटल सिद्धान्त मानना या समझना चाहिए कि समार की कोई भी मूल वस्तु न तो नष्ट हो जाती है और न नवान ही पैदा हुआ करता है। इन मूल तत्वों में जो नानाप्रकार के परिवर्तन आदि होते हुए नजर आते हैं, वही विनाश तथा उत्पादन की सांसारिक क्रिया हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सांग पदार्थ ही उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश आदि तानों ही गुणोंवाले हैं।

इन तीन गुणों में जो मूल वस्तु सदा-सर्वदा स्थित रहती है, जैनधर्म-शास्त्र में उसे ही द्रव्य कहने में आता है, और जिनकी उत्पत्ति और नाश होता है उसे पर्याय कहते हैं अर्थात् द्रव्य के सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ निःसृत और पर्याय के सम्बन्ध से

अनित्य होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को न तो एकान्त नित्य ही है और न तो एकान्त अनित्य ही मानना चाहिए। अर्थात् नित्यानित्य मानना ही श्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

इसी पर जैन-आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन है:—

मद मद्रूपस्य वस्तुनो व्यवस्थापितत्वात् । सवेदनस्यापि
च वस्तुत्वात् तथा युक्ति मिद्धश्च । तथाहि संवेदनं पुरोऽव्य-
वस्थित घटादौ तदभावेन च भावाध्यवसाय रूप मेवोऽवज्ञायते
“ न च सदसद्रूपं वस्तुति सन्मात्र प्रातभी स्वये तत्त्वत् स्तत्
प्रतिभास्येव, सम्पूर्णार्था प्रतिभामनात् । नरमिह-मिह संवे-
दनवत् । नचेत उभय प्रतिभामिन संवेद्यते तदन्य विविक्तता
विशिष्ट स्यैव संवित्तं । तदन्य विविक्तता च भासः ।

इसका तात्पर्य यह है “मदमद्रूप वस्तु का जबल सदस्यमक ज्ञान ही सदा ज्ञान नहीं है। कारण यह है कि वह उस वस्तु के पूर्ण अर्थों को प्रकट नहीं कर सकता। जिस प्रकार जबल मिह के ज्ञान-मात्र से नरमिह का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता।”

अतएव जैनदर्शन का मुख्य अङ्ग उसका श्याद्वाद वाला सिद्धान्त ही है। एक ही वस्तु में विभिन्न देश, काल और अवस्थाओं की अपेक्षा में अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मों का सम्भावना हो सकता है। अतः एकान्त रीति से अमुक वस्तु में ही अमुक धर्म है दूसरा नहीं, ऐसा कहना मिथ्या है। श्याद्वाद यह वस्तुमात्र को पूर्णरीति से पहिचानने का नाम है। इसका अनेकान्तवाद भी कहने में आता है। इसका द्वारा प्रत्येक वस्तु की परीक्षा करने पर वस्तु का मरूप यथार्थ रूप में प्रकट हो जाता है। इस सिद्धान्त को जानने और पालन करने से जगत् का वैर-विरोध शान्त हो सकता है।

विश्वधर्म और जैन

जो धर्म सामाजिक शान्ति में जितना ही अधिक आत्मिक उन्नति के मार्ग के प्रति व्यक्ति-विशेष को ले जाने की शक्ति रखता है, उतना ही अधिक मात्रा में वही धर्म विश्वव्यापी धर्मों की श्रेणी में उन्नता की श्रेणी का गिना जाता है। सामाजिक शान्ति में कौन-कौनसे ऐसे गुण हैं, जो बाधक हुआ करते हैं और उनके अनिष्टिक कौन-कौनसे ऐसे गुण हैं, जो उनकी उस प्रकार की शान्ति का बढ़ानेवाले बने जा सकते हैं। इसी बात की परीक्षा करने में हम अपने लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ हो सकते हैं। धर्मिक दृष्टि से इन बातों पर हम परकाश न डालकर केवल सामाजिक दृष्टि से ही यहाँ पर कुछ विचार करेंगे।

हिंसा, कृपा, बन्धु-विद्रोह तथा व्यवसाय आदि कुछ सामाजिक दृष्टि से ऐसे हैं, जिनको हम समाज में अशान्ति पैदा करनेवाले बने, तो अनुचित नहीं कहा जा सकता। उन्हीं के विपरीत धर्म, दया, नम्रता, बन्धु-प्रेम तथा ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षाएँ ऐसी हैं, जिनके प्रसार होने से समाज में शान्ति को अटल बनाए रखने में सहायता प्राप्त होती है। जिस धर्म के द्वारा पहलेवाले दृष्टि में प्रति हेतु दृष्टि तथा दूसरे गुणों के प्रति आकर्षणपूर्ण दृष्टि से देखने का शिक्षा तथा उत्तेजना प्राप्त होती है, उसी धर्म के द्वारा व्यक्ति को, जाति को, देश को तथा विश्व को लाभ होता है।

इतना जानते हुए भी इसमें एक बड़ी भयङ्कर बाधा उपस्थित हुआ करता है। उस प्रकार की बाधा मनुष्य प्रकृति के कारण समाज में बराबर ही पैदा होती रहती है। प्रत्येक मनो-बिज्ञान-शास्त्री इस बात को भली-भाँति से जानता है कि मानव जाति अर्थात् मनुष्य प्राणी प्रकृति दोष तथा गुणों का सम्मिश्रण या समष्टि है। जहाँ उसमें अनेक अच्छे अर्थात् देवोचित गुणों का समावेश रहता है, वहीं पर उनमें अनेक बुरे या असुरोचित दुर्गुणों का भी समावेश रहना अनिवार्य है। इस प्रकार की मनुष्य-प्रकृति की कमजोरी का रहना इतना अटल तथा अनिवार्य है कि संसार का कोई भी धर्म किसी भी काल में उसका दूर करने में न कभी सफल हो हुआ है और न भविष्य में ही वह सफल होने की आशा का सकता है। यह नितांत ही असम्भव है कि सृष्टि की ये क्रूर तथा घातक प्रवृत्तियाँ विवृत्त हो विनष्ट होकर रहेंगी। प्रकृति के अन्तर्गत सदा-सर्वदा ये रही हैं और रहेंगी।

अतएव ऐसा आशा करना एकदम ही व्यर्थ है कि कोई भी धर्म इन कुप्रवृत्तियों को नाशकर विश्रव्यापी शान्ति के प्रसार करने में सफल हो जायगा। हाँ, इतना जरूर हो सकता है कि प्रयत्न करने पर मनुष्य समाज में कुप्रवृत्तियों की संख्या में कमी तथा सत्प्रवृत्तियों की संख्या में आधिक्य हो सकता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो धर्म मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों को निकालकर सामाजिक शान्ति को रक्षा कर मनुष्य जाति को आत्मिक उन्नति का मार्ग बतलाना है, वही धर्म श्रेष्ठ है।

इसी कसौटी पर यदि जैन धर्म का रखकर कमा जाये, तो उसका जोहर स्वयमेव ही खुलकर रहेगा। जैन-धर्म के अन्तर्गत

प्रत्येक भ्रातृक अर्थात् गृहस्थ के लिये अहिंसा, सत्य, आचार, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण आदि पाँच अणुव्रतों की योजना करने में आई है। जैन-धर्म-प्रवर्तक अर्थात् जैनाचार्य यह अच्छी तरह से जानते थे कि साधारण मनुष्य-प्रकृति इन बातों को सूक्ष्म रूप से पालन करने में असमर्थ होगी। इसी कारण ही उन्होंने मनुष्य-प्रकृति को साधारण गिनी जानेवाली इन्हीं बातों को मूढ़म रूप से पालन करने को आज्ञा भ्रातृकों के लिये देने की कृपा भी की है।

जैन धर्म के मतानुसार यदि समाज में समष्टि रूप से उपरोक्त पाँचों वृत्तों का स्थूल रीति से पालन होने लग जाय और प्रत्येक मनुष्य यदि अहिंसा के सौंदर्य को, सत्य की पवित्रता को, ब्रह्मचर्य के तेज को तथा सादगी की महत्ता को समझ जायें, तो इस धर्म की दावे के साथ स्वाकांक्ष करने में आ सकता है कि मनुष्य-समाज में शान्ति का सार्वभौम प्रचार, प्रसार आदि हुए बिना नहीं रह सकता।

संसार में आज जहाँ भी अशान्ति तथा कलह के जो भी दृश्य आदि देखने को मिलते हैं, उन सभी का मुख्य कारण इन्हीं पाँचों वृत्तों की कमी का होना ही है। अहिंसक प्रवृत्ति के अभाव के कारण संसार में हत्या तथा क्रूरता के नग्न दृश्य नित्य देखने को मिला करते हैं। सत्य की कमी ही के कारण संसार में धोखेबाजी तथा बेइमानी आदि नजर पड़ती हैं, जिसके लिये न्यायालय तथा पञ्चायतों आदि में हजारों-लाखों की संख्या में मुकदमों की पेशियाँ नित्य-प्रति संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती रहती हैं। उसी प्रकार ही ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण संसार में अनाचार, व्यभिचार आदि के दृश्य हमें नित्य देखने को मिला करते हैं। साथ ही संसार में सादगी के विरुद्ध

बिलासिता आदि का बालवाला सर्वत्र देखने में आता है। यही स्वाम कारण है कि हमें प्रत्येक समाज तथा देश में बिलास-मन्दिरों में मनुष्य जाति का अधःपतन देखने को मिलता है।

यह निर्विवाद है कि मनुष्य जाति का इन कमजोरियों को दूर करने के लिये चाहे लाखों प्रयत्न क्यों न किए जावें, पर वे कदापि दूर नहीं की जा सकती। फिर भी इतना तो जरूर हो सकता है कि इन मिद्वानों के प्रचार करने से इस प्रकार की कमजोरियों में कुछ कमी जरूर आ सकती है और बर्बरता के विरुद्ध सभ्यता की मात्रा में कुछ वृद्धि भी हो सकती है। इन सिद्धान्तों का जितना ही अधिक प्रचार मनुष्य-समाज में होता जायगा, उतनी ही अधिक शांति की वृद्धि भी मनुष्य-समाज में होगी। इस दृष्टि से यदि खुली आंखों तथा खुले हृदय से विचार किया जाय, तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि जैन-धर्म का प्रभाव सारे संसार पर समान गति से पड़ता है।

आत्मिक तथा आध्यात्मिक उद्धार के प्रति भी संसार के अन्य धर्मों के मुकाबिले में जैन-धर्म को क'को उत्तमपूर्ण मानना तथा कहना ही पड़ेगा। महात्मा बुद्ध मरीचि पहुँचे हुए महान पुरुष तक ने जैन धर्मावलम्बियों की तपस्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसके लिये विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये 'मज्झिम निकाय' नामक बौद्ध ग्रन्थ का अवलोकन तथा मनन करने को आवश्यकता है।

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि यदि जैन-धर्मावलम्बी गए अपने धर्म के प्रचार के प्रति विशेष ध्यान देने की कृपा करें, तो जैन-धर्म को विश्व-धर्म का उच्च स्थान अवश्य प्राप्त हो सकता है।

जैन दर्शन

वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन की तरह ही जैन-दर्शन भी काफी वृद्धतपूर्ण स्थिति पर है। जैन-साहित्य में ये आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें आध्यात्मिक विकास का मार्ग बहुत ही सुव्यवस्थित रूप से प्राप्त होता है। यह जरूर है कि उनमें उस प्रकार के आत्मिक उन्नति के मार्ग के चौदह विभाग करने में आए हैं। उन्हें गुण स्थान के नाम से सम्बोधन करने में आता है।

गुण स्थान

आत्मा की साम्य तन्त्रचेतना, वीर्य, अग्नि आदि शक्तियों को गुण नाम से सम्बोधन करने में आता है और उन शक्तियों की तात्कालिकता को स्थान कहने में आता है। हम जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश को बादलों में छिपा हुआ देखते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुण भी कई प्रकार के आवरणों में छिपकर सामाजिक दशा में आवृत्त रहते हैं। इसप्रकार के आवरणों की शक्ति ज्यों-ही-ज्यों जाग होने लगती हैं। अर्थात् जिसप्रकार बादल के फटने या हटने से सूर्य का प्रकाश अपना प्रभाव प्रकट करने लग जाता है, ठीक उसी प्रकार इन आवरणों के लय हाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण भी प्रकाशमान होने लग जाते हैं।

जैन आचार्यों ने स्थूलतम उनकी चौदह स्थितियाँ बनलाई हैं। गुण स्थान की स्थिति मुख्य रूप से मोहक कर्मों की प्रबलता या निर्बलता पर निर्भर करती है। मोह पैदा करनेवाले कर्मों की दो प्रकार की प्रधान शक्तियाँ प्रकट करने में आई हैं— (१) दर्शन (२) चरित्र।

दर्शन शक्ति का कार्य आत्मा के वास्तविक गुणों को आच्छन्न करने का है।

चरित्र शक्ति का कार्य आत्मा के चरित्र गुण को ढँक देने का है।

यही खास कारण है कि आत्मा नात्विक रुचि तथा सत्य दर्शन होने पर भी उसके अनुसार अप्रसर होकर अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है। उपरोक्त दोनों ही प्रकार की शक्तियों में दर्शन मोहवाली शक्ति अधिक प्रबल रहती है। जब तक वह शक्ति निर्बल नहीं बन जाती, तब तक चरित्र मोहवाली शक्ति का बल घट नहीं सकता। दर्शन मोहवाली शक्ति का बल घटते ही चरित्र मोहवाली शक्ति का बल क्रमशः घटने लग जाता है और अन्त में वह शक्ति एकदम से ही नष्ट तक हो जाती है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र आदि आठ कर्मों में मोहनीय सबसे प्रधान तथा बलवान है। उसका मुख्य कारण यह है कि मोहनीय कर्म का जब तक प्राबल्य रहता है, तब तक अन्य कर्मों का बल घट नहीं सकता और उसकी ताकत घटने के साथ-ही-साथ अन्य कर्म भी क्रमशः आप-ही-आप ह्रास का प्राप्त होने लग जाते हैं। यही मुख्य कारण है कि गुण स्थानों का कल्पना मोहनीय कर्म के तारतम्यानुसार ही करने में आई है।

पहला गुण स्थान अविकास काल है, दूसरे तथा तीसरे में विकास का स्फुरण होना प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु फिर भी प्रधानता अविकास की ही रहती है। चौथे गुण स्थान से विकास का कार्य अच्छी तरह प्रारम्भ हो जाता है और इसी चौदहवें गुण स्थान पर जाकर आत्मा पूर्ण कला पर पहुँच जाती है। उसी के बाद मोक्ष प्राप्त होता है। इसी को हम संक्षेप में इस प्रकार भी वर्णन कर सकते हैं। पहलेवाले तीन गुणस्थान अविकास के हैं और अन्तिम शेष के ग्यारह विकास काल के हैं और उसके पश्चात् मोक्ष का स्थान रहता है।

यह विषय बहुत ही सूक्ष्म तथा गूढ़ होने से जैन-धर्मावलम्बी समाज इसके प्रति बहुत ही कम ध्यान देती है। किन्तु यदि वे धैर्य से काम लें तथा इसको समझने के प्रति भी विशेष रुचि रखने की चेष्टा करें, तो बहुत ही सरलता से उन्हें समझा जा सकता है और उसके प्रति सभी का ध्यान भी आकृष्ट हो सकता है। यह आत्मिक उन्नति के लिये विवेचनावाली स्थिति है। इसी को मोक्ष-मन्दिर की सीढ़ी भी कहें, तो भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार मनुष्य मकान की छत पर जाने के लिये सीढ़ी या जीने का उपयोग या सहायता लेते हैं और उसकी एक-एक सीढ़ी चढ़कर जल्दी या देर से छत पर पहुँचते हैं—ठीक उसी प्रकार मोक्ष-मन्दिर की छत पर चढ़ने के लिये चौदह गुणस्थानवाली सीढ़ी के द्वारा देर या जल्दी से चढ़कर मनुष्य मोक्ष-मन्दिर के द्वार में प्रवेश करने में समर्थ हुआ करता है।

चौदह गुणस्थान

(१) मिथ्यात्व (२) मासादन (३) मित्र (४) अश्विन

सम्यक् दृष्टि (५) देशविरति (६) प्रमत्त (७) अप्रमत्त (८)
अपूर्वकारण (९) अनिवृत्ति (१०) सूक्ष्ममंपराय (११) उप-
शान्त मोह (१२) क्षाण मोह (१३) संयाग केवली तथा (१४)
अयोग केवली ।

जैन शास्त्रकारों ने आत्मा की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है, उनके नाम ये हैं—मित्रा, तारा, बला, दीपता, स्थिरा, कांता, प्रभा और परा । इन दृष्टियों में आत्मा की उन्नति का क्रम है । प्रथम दृष्टि में जो बोध होता है, उसके प्रकाश को तृणाग्नि के उद्योत की उपमा दी गई है । उस बांध के अनुसार उस दृष्टि में सामान्यतया भ्रमन होता है । इस स्थिति में-से जीव जैसे-जैसे ज्ञान और वर्तन में आगे बढ़ता जाता है नैसे-ही-नैसे उसका विकास होता जाता है ।

ज्ञान और क्रिया की ये आठ भूमियाँ हैं । पूर्व भूमि की अपेक्षा उत्तर भूमि में ज्ञान और क्रिया का प्रकर्ष होता है । इन आठ दृष्टियों में योग के आठ अङ्ग जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि क्रमशः सिद्ध किए जाते हैं । इस तरह आत्मोन्नति का व्यापार करते हुए जीव जब अन्तिम भूमि में पहुँचता है, तब उसका आवरण क्षीण होता है और उसे केवल ज्ञान मिलता है ।

श्रावक तथा साधु

जैन समाज के दो अङ्ग हैं (१) श्रावक (२) साधु ।

उनके कर्तव्यों के बारे में जैनाचार्यों ने श्रावक धर्म तथा साधु धर्म नामक दो शीर्षक देकर कार्का विवेचन किया है । श्वेतांबर तथा दिगम्बर साहित्य-भण्डार में इनपर काफी पुस्तकें अपने-अपने मत को पुष्ट करने के लिये स्वतन्त्र रूप से लिखने में आई हैं । किन्तु दिगम्बर-मंत्रदाय की 'रत्नकरावली श्रावकाचार' शीर्षक पुस्तक स्वाम तीर से श्रावकों के लिये मननीय है ।

साधु-धर्म पर हम यहाँ पर विशेष कुछ लिखना नहीं चाहते । कारण जैन धर्म-प्रकाश पुस्तक श्रावकों के ही लोभाथ नैयार करने में आई है; क्योंकि साधुओं के लिए संसार में कोई स्वाम कर्म करने का नहीं रहता । श्रावक धर्म पालने के लिये मुख्य चारह व्रत बतलाए गए हैं ।

(१) स्थूल प्राणातिपत विरमण (२) स्थूल मृपावाद विरमण (३) स्थूल अदत्तादान विरमण (४) स्थूल मैथुन विरमण (५) परिग्रह परिणाम (६) दिग्गम (७) भोगोपभोग परिमाण (८) अनर्थ दण्ड विरति (९) सामायिक (१०) देशावकाशिक (११) पोषध (१२) अतिथि संविभाग ।

विद्वानों के मत

१—उद्भू भाषा में हिन्दू धर्म की पुस्तकों के सुप्रसिद्ध अनु-
बादक तथा रचयिता सुप्रसिद्ध विद्वान श्री सुप्रनलाल वर्मन एम०
ए० ने अपने उद्भू मासिक पत्र के जनवरी सन १९११ के अंक में
'महावीर स्वामी का पवित्र जीवन' शीर्षक लेख में लिखा है:—

गये दोनों जहान नज़र से गुज़र ।

तेरे हुस्न का कोई बशर न मिला ॥

(भावार्थ—पीछे का तथा यह (वर्तमान) दोनों काल
हमारा चला गया, परन्तु हे प्रभो ! तेरे जैसा पवित्र आज तक
हमको कोई भी न मिला ।)

"ये जैनियों के आचार्य गुरु थे । पाक दिल, पाक ग्याल,
मुजस्सम पाकी* व पाकी जर्जी थे । x x x x उन्होंने नमस्कार
के प्राणी मात्र की भलाई के लिये सबका त्याग किया x x x x
जानवर्गों का खून बहाना रोकने के लिये अपनी जिन्दगी का
खून कर दिया । ये अहिंसा की परम उद्योतिवाली मूर्ति हैं ।
वेदों की अति "अहिंसा परमो धर्मः" कुछ इन्हीं पवित्र महान
पुरुषों के जीवन में अमली सुरत इस्तिहार करती हुई नज़र आती
है ।" x x x x इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमें धर्म

*अद्वितीय ।

का कमाल था, यह इन्सानी कमजोरियों में बहुत ही ऊँचे थे। इनका खिताब जिन है। जिन्होंने मोहमाया को जीत लिया था, ये तीर्थंकर हैं। इनमें बनावट नहीं थी।

२-श्री कश्मोमल-जैन धर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है, जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना बहुत ही दुर्लभ बात है।

३-जर्मनी के डॉ० जॉन्म हर्टेल-मैं अपने देशवासियों को दिखाऊँगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊँचे विचार जैन-धर्म तथा जैन आचार्यों में हैं। जैन-साहित्य बौद्ध-साहित्य से काफी बढ़-चढ़ कर है। ज्यों-ही-ज्यों मैं जैन-धर्म तथा उनके साहित्य को समझता हूँ, रगों-हा-रगों मैं उनको अधिकाधिक पसन्द करना हूँ।

४-फ्रांस के डा० ए० गिरनाट-मनुष्यों की उन्नति के लिये जैन-धर्म का चारित्र बहुत ही लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही ठीक, स्वतन्त्र, सादा तथा मूल्यवान है। ब्राह्मणों के पंचालिन धर्मों से यह एकदम ही भिन्न है। साथ-ही-साथ बौद्धधर्म की तरह नास्तिक भी नहीं है।

५ श्रीवरदाकांत मुखोपाध्याय एम्० ए०-जैनधर्म हिंदू-धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है। उसकी शान्ता या रूपान्तर नहीं है। पार्श्वनाथ जैनधर्म के आदि प्रचारक नहीं थे, किन्तु इसके प्रथम प्रचारक भगवान् ऋषभदेव थे।

६-स्व० डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर-महावीर ने हिमहिम नाद में भारत में ऐसा सन्देश फैलाया कि धर्म यह केवल सामाजिक

रूढ़ि नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य हैं। मोक्ष यह बाहरी क्रिया-कांड पालने में प्राप्त नहीं होता, धर्म तथा मनुष्य में कोई स्थायी भेद नहीं रह सकता। कहने हुए आश्चर्य होता है कि इस प्रकार की शिक्षा ने समाज के हृदय में उड़ रूप से बैठी हुई भावना रूपी बिज्जों को स्वरा से भेद दिए और देश को बर्शाभूत कर लिया। इसके पश्चात् बहुत समय तक $\times \times \times \times$ ब्राह्मणों की अभिभूत हो गई थी।

७-बोलपुर के ब्रह्मचर्याश्रम शान्तिनिकेतन के अधिष्ठाता नेपालचन्द्रराय-मुझको जैन तीर्थङ्करों की शिक्षा पर अतिशय भक्ति है।

८-जर्मन डॉ० हर्मान जेकोबी-जैन-धर्म के बारे में कुछ भी लिखना मेरी कलम का ताकत के बाहर की बात है

महत्मा गाँधी तथा लोकमान्य तिलक आदि के भी जैन धर्म के बारे में उत्कृष्ट विचार रहे हैं। जल्दी के कारण हम उन्हें समझ नहीं कर सकें हैं। हमारे पठक उसके लिये जरा करेंगे।

उपयोगी शिक्षाएँ

- १—ईश्वर एक है, नाम अनेक हैं ।
- २—किसी का बुरा मत चाहो ।
- ३—हो सके तो किसी की मदद करो, नहीं तो कम-से कम किसी का तकलीफ मत दो ।
- ४—इच्छाओं को कम करो ।
- ५—कठिनाइयों में ईश्वर को याद करो ।
- ६—दुनियाँ के भोगों का आवश्यकतानुसार और धर्तौर दवाई के उपभोग करो ।
- ७—इस मुसाफिरखाने से मुहब्बत करो, लेकिन इतनी कि जिससे घर न भूल जाय ।
- ८—सन्तोष से बड़ा दूसरा धन नहीं है ।
- ९—दुनियाँ से दिल न लगाओ और मौत को याद रखो, लेकिन नेक काम करने के समय अपने को अमर समझो ।
- १०—जीवन का लक्ष्य भगवत् प्राप्ति है, भोग नहीं, इस निश्चय से कभी न टलो और सारे काम इस लक्ष्य की साधना के लिये करो ।
- ११—निकम्मे कभी न रहो ।
- १२—स्वावलम्बी बनकर रहो । दूसरे पर अपने जीवन का भार मत डालो ।
- १३—बिलासिता से दूर रहो, अपने लिये स्पर्ध कर्म लगाओ, बचत क पैसे गरीबों की सेवा में लगाओ ।
- १४—मन, वचन और शरीर से पवित्र, विनयशील, और परोपकारी बनो ।

१५—वन कमाने में छल, कपट, चोरी, असत्य और बेई-
मानी का त्याग करो। अपनी कमाई में यथायोग्य सभी का हक
समझो।

१६—इन्द्रियों के बरा न होकर उनको बरा करके उमसे
यथा योग काम लो।

१७—परिश्रम, व्यायाम और नियमादि के द्वारा शरीर को
नीरोग रखो।

१८—कुमङ्ग का त्याग करो। घुरे मङ्ग से बुरी वृत्ति होती है
और सर्वथा पतन हो जाता है।

१९—अपने लक्ष्य को सदा-सर्वदा याद रखो। प्रत्येक चेष्टा
लक्ष्य की सिद्धि ही के लिये करो।

२०—संसार में रहो, पर उमके होकर न रहो। पृथक् रहना
बस इसी सिद्धान्त पर चलने से मुक्ति हो सकती है।

२१—तुम्हें दुनियाँ में कोई हानि व लाभ नहीं पहुँचाता।
जैसा बीज बोते हो, वैसा ही फल तुम्हें मिलता है।

२२—केवल अपनी नाममर्मा से तुम यदि संसार के लोगों
को लाभ न पहुँचाओगे तो स्वयं ही तुम अपने शत्रु बनोगे।

२३—इस शरीर से तुम्हारी आत्मा बिजली के समान एक
क्षण में निकल जायगी और फिर तुम ऐसे अन्धकार में फँक दिए
जाओगे कि जहाँ न कुछ देख सकोगे और न कुछ कर हो सकोगे।

२४—भला काम चाहे थोड़ा ही क्यों न हो, वह भी हारे के
समान प्रकरात्मान होता है।

२५—अगर तुम योग और तपस्या करने में अनमर्थ हो तो
कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिये यही सरल मार्ग है कि
अपने हृदय में बुरी भावनाएँ पैदा मत होने दो।

ਅੰਤਰਿ

निष्फलता

संबन्ध हो, निर्दोष हो, अविरोध हो, अनुपम गिरा ।
ये तीन गुण जिनमें प्रगट वह देव है नहिं दूमरा ॥
वह बुद्ध हो श्रीकृष्ण हो, या शम्भु हो श्रीगणेश हो ।
बस भेद-भाव बिना वसे, कर जोड़ नित्य प्रणाम हो ॥
सर्वांग है सिद्धान्त सय, निष्पत्तता की दृष्टि में ।
निहाम के पन्ने उलटिए, आप इसकी पुष्टि में ॥
रह हो चुका है मित्रि जग में जैन-धर्म अनादि है ।
स्वकार करने श्रेष्ठता जग को न बाद-विवाद है ॥

जैन धर्म

[लेखक—पूज्य श्री १०८ आचार्य विशालंकार श्रीहीराचन्द्र
मूरिजी महाराज—काशी]

पक्षपातां न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रहः ॥

—हर्षिभद्र मूरि

१-जैन-धर्म क्या है ?

आत्म धर्म को जैन धर्म कहते हैं, रागाद्रेष को विजय करने पर आत्मा स्वस्वरूप में प्राप्त होती है, उसी आत्म स्वभाव में आने के लिये ही धार्मिक नियम, व्रत, अनुष्ठानादि हैं । आत्म स्वभाव ही को आत्म धर्म कहते हैं, जिसके गुण हैं—ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, चारित्र्य, तप, वाग्य आदि ।

पुद्गलामयि से ही आत्मा पर-स्वभाव में आसक्त होती है, उसमें स्वधर्म स्व स्वरूप का ज्ञान नहीं सकती, इस अवस्थापन्न जीवों को 'बहिरात्मा' किंवा जिसको जैन परिभाषा में मिथ्यात्वा और वैदिक परिभाषा में 'उम' को मुदात्मा कहते हैं । इसी जीवों का संसार है, मुक्ति का मार्ग स्व स्वरूप का बोध किंवा आत्मज्ञान है । स्व स्वभाव किंवा स्वधर्म में स्थिरता ही को धर्म पालन कहते हैं । यही ज्ञानि का प्रथम धर्म है । जिनेश्वर का उपदिष्ट होने से इसी को जैन-धर्म कहते हैं ।

२-जैन-धर्म के स्थापक कौन हैं ?

जैन धर्म के संस्थापक कोई भी नहीं हैं। जीव द्रव्य जब अनादि-सनातन है, तब उसका स्वभाव किंवा धर्म भी अनादि-अनन्त और सनातन होना ही चाहिए। इस धर्म को समझानेवाले, उपदेश देनेवाले, किंवा इस धर्म के प्रकाशक व्यावहारिक दृष्टि से इस काल की अपेक्षा से भगवान श्री ऋषभदेवजी हैं, जो जैन-धर्म के चौबीस तीर्थङ्करों में से सर्वप्रथम तीर्थङ्कर माने जाते हैं।

जिन कौन है ?

रागद्वेषादि आत्मा के अंग दुर्गुणों के विजेता आत्मा को जिन कहते हैं।

४-जिन मूर्तियों से किंवा वीतराग प्रतिमाओं से क्या शिक्षाएँ मिलती हैं ?

जिन प्रतिमाएँ आत्मा को वीतराग ज्योतिर्मय बनाने में प्रधान आदर्श साधन हैं तथा वीतराग अवस्था एवं आत्म-ध्यान में रहने की ये शिक्षा देती हैं। जिन प्रतिमाएँ वीतराग ज्योति की प्रदर्शिका हैं। इस कारण मोक्ष-मार्ग का वे दीपिका स्वरूप हैं।

५-जैन मस्कुति क्या हैं ?

प्राणीमात्रक (पौद्गलिक भौतिक) आसक्ति को हटाकर, उन्हें आत्मिक विभूति के प्रति आकर्षित करना है तथा आत्म गुणों और आध्यात्मिक सुखों का उन्हें उपभोक्ता बनाना है। एवं विशिष्ट संस्कारों को हटकर विशिष्ट व्रत नियमादि का अव-

लम्बन कराकर जीवों को जन्म-मरणार्थ भव चिह्नबनाओ से मुक्ति कर देनेवाली पवित्र आध्यात्मिक शिक्षा ही को जैन संस्कृति कहते हैं।

जैन-धर्म में जो दिगंबर-श्वेतांबर आदि शाखाएँ हैं, वे मुनि आश्रित हैं, जैन-धर्म में कोई भी अन्नर नहीं है।

६-अहिंसा का स्वरूप क्या है ?

वह मन, वचन, काया से जीवमात्र के साथ अश्रद्धा, बुद्धि, अनुग्रह, दान, परांपकार, सहयोग, सहभाव, धिनय तथा विवेक आदि आत्म प्रवृत्तियों का नाम अहिंसा है, जिसका सर्वोपशे पालन मुनि जीवन में और देश-न गृहस्थ जीवन में होता है, जिसका विस्तृत व्याख्यान जेनागमों में का गढ़ है।

७ जिन प्रतिमा की पूजा क्यों की जाती है ?

बिना वातराग अवस्था का उपमनसा के कम ध्यान का परपरा नहीं रुकती, अतः वातरागवस्था प्राप्त कर ही जिन वातराग देव, वातराग मानव (गुरु), वातराग धर्म, वातराग शास्त्रों का व्याख्याय आदि किए जाते हैं, जैसा कि कहा है 'वातराग ध्यान योग' वातराग धर्मधने' वातराग या ध्यान करने वातराग स्थिति को प्राप्त करता है *

इसलिये आत्ममुक्ति के अभिलाषा साधकों के लिये केवल एक वातराग प्रतिमा ही उपाध्य है, इस लक्ष्य से ही जैन मंदिरों

इसी अवस्था का समर्थन और विधान श्रीमद्वज्रसूता के द्वितीय अध्याय में विनयप्रद मुनि के लक्षण के रूप में प्रकट करने में आया है

में जिन प्रतिमाएँ विराजमान की जाती हैं, जिसमें विशुद्ध आध्यात्मिक बीतराग ज्योति का यथार्थ ज्ञान भाव प्रकट होता है, साधना में यही विशिष्ट सहायक होने से प्रतिदिन बीतराग प्रतिमा का दर्शन, पूजन, गुणानुवाद प्रत्येक जीवमात्र के लिये अन्यायप्रद है।

८-आत्मा-परमात्मा का परिभाषा क्या है।

मज्झिमी, मक्खयायी, (क्रोध, मान, माया, लोभ) विषयी पांच इन्द्रियों के नेतृत्व विषयों का उन्नोक्त ज्ञानों को संसारी जीव कहते हैं, जिनका जन्म मरण होता है, अलक्ष जीव योनियों में भ्रमण होता है, यही संसारी जीवों की स्थिति है। इनसे व्यापारिक अजारी, अनाहारी, अकपायी, अवेदी (निर्विकार) अन्त विभूति रूप अनन्त चतुष्क के भक्ता ही परमात्मा कहे जाते हैं, जो कि किंचित् निर्वाधक, विमल केवल ज्ञान-वेबल, दर्शन से परिपूर्ण, आ मनोवक्त्र को प्राप्त कर शाश्वति परमात्मा ज्योति की प्राप्त जीवों को परमात्मा कहते हैं यही दोनों अवस्थाओं में भेद है। जैनदर्शन ने परमेश्वर का आकार, निर्गकार दोनों अवस्थाओं को मान्य किया है। इस लिये ही जैन के प्रातः स्मरणार्थ मानसत्रयवराग में परमात्मा की मानस निर्गकार अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है प्रथम लोकप्रसार, मज्झिमी नीयम, तत्त्व अवस्था-अभिहित अवस्था यह संसार अवस्था का सूचक है। विद्वत् परमात्मा स्वरूप को 'मि' पद से निर्गकार परमात्मा की उपासना की जाती है।

९-जैन-धर्म नाम इसका क्यों दिया गया ?

यह धर्म विशिष्ट अन्त विभूति का प्रधान सिद्धान्त विधायक

है। बीतराग दशा का परतंक है, जब राग-द्वेष रहित मनोवृत्ति होती है, तभी वे वास्तविक में विवेकी बनते हैं। विवेकीजन ही मोक्ष-मार्ग के अधिकारी होते हैं, कारण रागद्वेष से ही दुःकर्म होते हैं, जिसमें बीरासी लक्ष जाव-योनियों में भ्रमण होता है। इसी भव-परम्परा में मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान सच्चा मार्ग बीतराग दशा का प्राप्ति है। यही आर्य धर्म का प्राप्ति का प्रधान मार्ग है। इस अवस्थापन आरम्भ को 'जैन-अरिहंत-बीतराग-स्थितवज्ज' आदि माना उपाधियों में जैन जैनतर सभी धर्म शास्त्रों में उल्लेख करने में आया है। बाद में कहा जाय तो ऐसा कहा जायगा कि रागद्वेष क विजेताओं का यह धर्म है, इसी में इसका जैनधर्म होने का और इसका सिंगपतण्य है—

जैनधर्म का प्रधान पालनमरणाय महामन्त्र नवकार है। इसमें विशिष्ट आध्यात्मिक परिचायक पात्र पदों का स्थापना है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष का नामा का स्थापना नहीं है, जैसे कि अन्य धर्मों के परतकों का नामों का माना जाया गया करने हैं।

जैन पुत्र का महामन्त्र नवकार एक विशिष्ट सिद्धान्त का साथ साथ है, जिसमें पराधर्ममरण जानी हो कर सकता है। दनियों का धर्म अर्थात् यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि ईश्वर निर्गुण है या साकार है? कष्ट साकार ईश्वर की सिद्धि करता है, नो कष्ट निर्गुण। किन्तु जैन-दर्शन ने अपने प्रधान इस नवकार महामन्त्र में परमेश्वर की दानों ही अवस्थाओं को मान्य देकर इसका निर्माण कर दिया है। मन्त्र में इन्हीं पदों का आण पदों में स्थापन किए हैं। अन्य तीन पद विशिष्ट आध्यात्मिक उन्नति के साधकों की उत्तराचर उत्तम गिनति के परिचायक

‘आचार्य-उपाध्याय-साधु’ ये तीन पद हैं। ये तीनों ही ईश्वरत्व-पद प्राप्ति के पथान साधक हैं। ये तीनों ही साधक आत्म धर्म रूप सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र, सम्यग् तप की साधना करते हैं। प्रथम पद में अग्रिहन्त को साकार, मशरीरी परमात्मावस्था, केवल ज्ञान, केवल दर्शन संयुक्त साकार परमेश्वर का स्मरण किया जाता है। इसके बाद में निर्वाण पद का प्राप्ति होने पर वही अशरीरी, अनाहारी आदि विशिष्ट स्थिति सम्पन्न केवल विशुद्ध परमात्मज्योति को ही सिद्ध पद कहते हैं। इसी को ईश्वर की निराकार अवस्था कहते हैं, इसके आगे से क्रमशः साधक इन दोनों महत्त्व की स्थितियों का प्राप्ति कर लेते हैं। यही सर्व जन्ममात्र के लिये मोक्ष प्राप्ति का पथान मार्ग जैन-धर्म है।

इसमें देश, कुल, जाति आदि की आवश्यकता नहीं होती। केवल आत्मा की विशिष्ट योग्यता ही इस मार्ग की अधिकारिणी होती है। यही आदर्श जैनधर्म की विशेषता है। इसपर-स यह स्पष्ट समझ में आ सकेगा कि इस प्रधान नवकार मन्त्र में पाँच पदों के गुणों का स्मरण ही साधकों को लक्ष्यवान बनाना है। इस महामन्त्र व्यवस्था में भा विशिष्ट सिद्धान्त एवं विशिष्ट आत्म स्थिति का परिचय और विशिष्ट साधना का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इसमें भी जैन दर्शन की विशिष्टता सिद्ध होती है। जोब मात्र के कल्याण का प्रधान यह धर्म है। इसीसे जन्ममात्र का शुभचिन्तक यह धर्म हुआ। इसकी आराधना ही से मनस्य-जन्म सार्थक होता है। आत्म विशुद्ध के लिये पर्येक जन्ममात्र की इस पवित्र जैनधर्म का अवलम्बन लेना चाहिए। इसकी शिक्षा ये है—

‘हे जीवो’ यदि तुमको अब भी भवभ्रमण की बिड़बना का स्वास हुआ हो, तो अब भी सोचो कि इसके कारण क्या-क्या हैं ? इसके समझो तुम अनन्तकाल से रागद्वेषवश होकर दुष्कर्म करते रहे हो। अनन्त ज्ञात्री के साथ ब्रह्म, हिमा, वैर, विरोध चीरोंदि दुष्कर्म करते रहे हो, उसी का यह फल है चीरामा लक्ष जीव योनियों में अनन्त काल से जन्म-मरण कर रहे हो। अब भी हम लोग मुक्ति नहीं पाते कर रहे हैं। मनुष्य-योनि में आकर भी यदि हम सबको विचार होता है, तो आज ही जीवन के लक्ष का परिचय करना होगा। रागद्वेष को त्याग कर समस्थिति का उपासक होकर भय्य अहिंसात्मय जीवन में स्थित रहकर दश लक्षणिक-आत्मधर्म का उपासना में हृदयस्थ रहना ही, तथा अनन्तकालीन सांसारिक भव-बिड़बनादि-दुःखों की परिमृष्टि होगी। फिर क्यों हम लोग पमाद में पड़े हुए हैं। अनन्त काल के अनन्त भवभ्रमणों में बने, अनन्त अपराधों का क्षमता क्षमणा कर चीरामा लक्ष जीव योनियों के ज्ञात्री के साथ मैत्री भाव स्थापन करना आवश्यक है। आज से ज्ञातामय के साथ ब्रह्म न कर प्रति दिन सखिवेक के साथ, मैत्रीभावपूर्वक परापकार गुणि से वर्तना उचित है। इस पवित्र तथा जैन शिक्षा ने मनुष्यों को ब्रह्म, विनयवान बनाया, विषय कथाओं में मुक्त किया। उनको दाना, शास्त्रवन, सयमी, नपराधी एवं द्वादश भावनात्मय जीवन बनाया, जिसका परिणाम यह आया कि चराचर जगत् में शान्ति का सागर उदय स्थापित हुआ। इसी में विश्व पशुपति ज्ञात्री को अनुकूल सुखदाई होना है। यही जैनधर्म किंवा आत्मधर्म का यथार्थ पालन का फल है, यही जैनदर्शन ही सांत्वन रूप-रेखा है।

जैनधर्म विद्वान का उपासक है, व्यक्तियों का नहीं। धर्म-

सिद्धान्त पालने से हाँ व्यक्तियों का महत्त्व है। नवकार मन्त्र में सिद्धान्त की उपासना स्पष्ट है। पाँचों ही पदों में किसी भी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है, यहाँ इसकी प्रधानता को सिद्ध करता है।

उपरोक्त चर्चा से जैनदर्शन की विशिष्टता तथा उसके अनुरूप आचार-विचारों का कितना श्रेष्ठ विधान आदि हैं, जिससे जैन मार्ग का ज्ञान होता है, जिसको ममभक्तने पर जीवमात्र स्वयमेव उसका अनमरण करने लगते हैं। नमी में जैनदर्शन की महिमा पकट होती है।



शिक्षा

जगत शून्य से नहीं बना है—माया का भी ज्ञान नहीं ।
महि-महेश के लाख यत्न से—नाश न हो चिरकाल बहो ॥
ईश्वर को क्या पड़ा हुई जो—उसे बना फिर बुर किया ।
इससे जगत अनादि सिद्ध कर—मय भंगद को दूर किया ॥

सद् विश्वास ज्ञान सद्गुरु के—मराचार के ग्रहण करो ।
इन तीनों को अपना करके—सद् सुख पा जग-भ्रमण हरो ॥
मय धर्मों का सार यही—पर इसकी जाँच भक्त कर लो
श्याद-बाद नय के काटे धर—फिर चाहे नो मन धर लो ॥

जैनधर्म की रूपरेखा

। लेखक—राजीव इन्दु । अथवा । अनेक नाम । प्रोफेसर
धर्मानन्द । पृथ्वीराज । अथवा । अथवा । अथवा । अथवा ।

पञ्चतन्त्र पञ्चतन्त्र चतुर्थांश विज्ञान ।

नमस्ते नाहि जाते अये अग्रहनादि महान ॥

जैन धर्म क्या है ?

समस्तों प्राणों समस्तों रसों में भयमन होकर मनुष्य, पशु पक्षी, कीड़ा मक्का आदि प्राणियों में नाना प्रकार के ब्रह्म पा रहे हैं, वे सब अपनी प्रिय धर्म के धारण करने से मान्ने और नष्टाने के ब्रह्म प्राण कहें, उन्हीं को जैन धर्म कहते हैं।

[illegible]

यह भी मानता है कि संसार की प्रत्येक आत्मा अपने ज्ञान का पूर्ण विकास कर परमात्मा बन सकता है। इस दृष्टि ने जैन-धर्म जीवमात्र का रेखा-चित्र एक मा ही बनाया है। भिन्न-भिन्न नहीं। ईर्ष्यालिये जैनधर्म का यह दावा है कि संसार में यही एक ऐसा धर्म है कि वह आत्मधर्म के नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु अनादि काल के अज्ञान में इस जीव ने अपने स्वरूप को नहीं समझा, इसलिये जड़-अचेतन पदार्थों में अपनापन मान रहा है। कर्म-पटल, जो इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होने में बाधक है, उनके द्वारा प्राप्त मुख्य दुःख में अपने को सुखी दुःखी अनुभव करता है। जिन आत्माओं ने इस कर्म मल को समझ लिया, वे इसे दूर करने में लग गये और अपने स्वरूप का ज्ञान भी उन्हें होने लगा। यही जैन धर्म का काम है। आत्मधर्म की व्याख्या करने समय जैन-दर्शनकारों ने—

१—उत्तम क्षमा २—उत्तम मार्दव ३—उत्तम आर्जव ४—
उत्तम शौच ५—उत्तम ममता ६—उत्तम मंगल ७—उत्तम तप
८—उत्तम त्याग ९—उत्तम आर्किचन १०—उत्तम ब्रह्मचर्य।
ये दश धर्म आत्मा के स्वभावस्वरूप प्रतिपादन किए हैं।

१—उत्तम क्षमा

पाँदें दुष्ट अनेक, बांध मार बहुविधि करे ।

धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजें पीतमा ॥

क्रोध उत्पन्न होने के कारण दुष्टों की गाली, ताड़नादि के होने पर भी क्रोध का उत्पन्न न होना क्षमा है। क्योंकि आत्मा जब अध्यात्म रम में मग्न हो जाता है, तब आत्मा की स्थायी शान्ति को सुरक्षित रखने का योग ही उसका भुलाव हो जाता

है। तब दुष्ट पुरुष या हिंसक पशु आदि आकर शान्ति भङ्ग करने की चेष्टा करते हैं, तो वह ज्ञानी आत्मा सोचता है कि अज्ञानी की चेष्टाएं सदा अज्ञान से भरी होती हैं। उनकी चेष्टाओं से यदि ज्ञानी आत्मा विचलित होने लग जाय, तो आत्मसाधन कैसे करेगा। ये जीव जब अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते, तब मैं अपने ज्ञान रूप आत्मस्वभाव से क्यों हूँ? यदि मैंने आत्मबल से इन दुष्टों के उपद्रव को सह लिया, तो मेरे कर्म जो इस समय इनके निमित्त से जन्म में आकर कुफल देकर मुझे अपने ज्ञान रूप से श्रेष्ठ करना चाहते हैं, क्यों न मैं ज्ञान-भाव से अपने स्वभाव को सुरक्षित रखूँ, जिसमें नश्वर धन्य न हो। जो अनन्त संसार का कारण है।

२-उत्तम मार्ग

मान महाविष रूप, कर्हि नीच गति जगत में।

कौमल मुधा अनूप, सुख पावे पानी मदा ॥

यह आत्म-पर्याय के साथ होनेवाले ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, श्रद्धा, तप, शरीर इन आठ कारणों को पाकर मोक्ष-प्राप्ति हो जाता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि ये शरीरादि मेरे इसी पर्याय के साथ नष्ट होनेवाले हैं, मदा के समान नहीं हैं। इसलिए इनके जगिक माह में आकर अभिमान क्यों करूँ? क्योंकि अभिमान जब होता है, तब आत्मा का विवेक नष्ट हो जाता है और विवेक के अभाव में उसका ज्ञान विकृत हो जाता है और मार्ग धर्म का काम बसे विकृत होने नहीं देता है।

३-उत्तम आर्जव

कपट न कांजे कोय, चोरन के पुर ना बर्म ।

सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा ॥

मन, वचन, काय, इन तीनों योगों में कुटिलता का न आना आर्जव है। यह आत्मा सामागिक माय-ममता के वश में नाना प्रकार के कपट जाल रचकर दूसरों को सम्पत्ति वगैरह हरण करने को नेष्टा करता है और उसकी चिन्ता में सदा तन्मय रहता है, जिसमें आत्म स्वभाव का ज्ञान उसे नहीं रहता। इसी से बचाना आर्जव धर्म का काम है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव सरल ज्ञानमय है अतः कुटिलन-श्रल कपट उसमें सदा दूर रहने में ही उसका भव बन्धन छूट सकता है।

४-उत्तम शौच

धरि हिरदै मन्तोष, करहु तपस्या देह मों ।

शौच सदा निर्दोष, धरम बढ़ो समाग में ॥

आत्मा में सन्तोष एक महान गुण है, जिसमें यह जीव लाभान्विताय के लोभान्ता से प्राप्त उन्निद्रा के भाग्य में मनाप कर अपने स्वरूप को विकृत नहीं होना देना और लोभ का काम परम असन्तोष पैदा करना है, जिसमें दुर्गो होकर यह जीव नाना अनर्थों और गोटों पादों का है, जिसमें उसे कभी शान्ति नहीं मिलता और शौच धर्म का काम अशान्ति में बचाना है इसलिये यह जीव शौच धर्म को रक्षार्थ बहिरंग शौच-स्नानादि पिह शुद्धि और अन्तरंग शुद्धि गान्धेष्वादि मलिन भावों से अपनी आत्मशुद्धि को करना है।

५-वचन सत्य

कठिन वचन मति बोल, परनिदा अरु झूठ तज ।

साँच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी ॥

जब आत्मा रागद्वेषादि भावों को आत्मा से भिन्न समझता है और आत्मा का अनाभव हो जाता है तब वह अपने सत्यांश को मदा सर्वाज्ञता रखने की चेष्टा करता है। इसीलिये न तो कभी मिथ्या व्यवहार करता है और न असत्य वचन बोलकर या दूसरों की निन्दा वृत्ति का अपना आत्मा को या पर को कष्ट देने की कचेष्टा करता है। क्योंकि इसप्रकार के मिथ्याचरण से उसका सत्य विज्ञान स्थिर नहीं होने पाता।

६-उत्तम संयम

काय इहो प्रतिपाल, पंचेन्द्रों मन बस करो ।

मञ्जुम रतन संभाल, विषय चार बहु फिरत हैं ॥

जिस व्यवहार या आचार से अपने को या पर प्राणों को कष्ट पहुँचे या पटुचन से आशंका हासिल कीयायों से मन और इन्द्रियों का निग्रह करना संयम धर्म है। पंचेन्द्रियों के विषयों से मन का आत्मा को न लगने देना इन्द्रिय संयम है। पाँच व्याचर और प्रभव जवा कर्त्तव्य करना प्राण संयम है। विषय पंचेन्द्रियों के भोग और व्याप—क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सरयों से आत्मा के बड़े शत्रु हैं। क्योंकि इनके संयोग से आत्मा बहकने लगता है अतः इनका निग्रह करना ही संयम है।

७-उत्तम तप

तप चाँहें सुगम, करम शिखर को बज्र है ।

ढाड़शाविधि मुन्बदाय, क्यों न करै निज सकति सम ॥

आत्मा का स्वभाव अनादि से ज्ञानावर्णा आदि कर्मों से अत्यन्त मलीन होता रहता है । उस मलीनता को दूर करने के लिये तप करना अत्यावश्यक है । जैसे सुवर्ण पापाण में-से बिना तपाए सोना अलग नहीं होता, उसी तरह कर्म मल भी बिना तपस्या के अलग नहीं होते । इसलिये अनशनादि बहिर्गुण तप और स्वाध्याय आदि अन्तर्गुण तप से उपयोग स्थिर करना तपधर्म है ।

८-उत्तम न्याग

दान चार प्रकार, चार संघ को दोजिये ।

धन बिजुरी उनहार, नरभव लाहो लाजिये ॥

आत्मभाव को कलुषित करनेवाले रागादिभावों को त्याग करना और रागादि बढ़ानेवाले द्वेषादि को उत्तम पात्र—माधु-संत, मध्यम पात्र—सत्यविज्ञानी और नैष्ठिका चार पालक, जघन्य पात्र—सत्य विभ्राम्सी एवं परम निवेकदान, इनके अलावा दान, दुस्वो रोगों, अज्ञानी आदि पुरुषों को आहार, ओषधि ज्ञानादि देना तथा शास्त्रागतों को अभयदान देना त्यागधर्म है ।

९-उत्तम आकिंचन

परिग्रह चौबिस भेद, न्याग करें मुनिराज जां ।

त्रिसना भाव उछेद, घटती जान घटाइये ॥

जिस पदार्थों के संग्रह और रक्षादि में निरन्तर आत्मा अस्थिर या अशान्त हो जाती है, ऐसे स्त्री, धन-धान्य, दासी-दाम आदि बहिरङ्ग परिग्रह का सर्वाधा या आंशिक त्याग को आकिसन्ध्य धर्म कहते हैं। क्योंकि वास्तविक निराकुल अवस्था परिग्रह के त्याग से ही होती है।

१०-उत्तम ब्रह्मचर्य

शीलवाट नां राख, ब्रह्मभाव अन्तर लखो ।

करि दोनों अभिलाख, करहु मफल नरभज मठा ॥

मन, वचन, काया से स्त्री मात्र का त्याग करना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। अथवा मन, वचन, काया से पर स्त्री त्याग और अपनी विवाहित स्त्री में मन्तोष करना एक देश ब्रह्मचर्य है। इन्द्रियों की पराधनता और मन की कूटिलता का प्रधान कारण वनक (मोना और कामना) है। काम वामना एक ऐसी भयानक नासना है कि उससे आधन माध, मन्त, तपस्वी ब्रह्मादि महापुरुष भी स्त्री के रूप में मोहित हो जाते हैं। उस समय आत्म ज्ञान कपूर की तरह उड़ जाता है। उस समय ये विचार आत्मा में नहीं रहता कि मैं जिस लृग नभर शरीर में आसक्त हूँ उसका स्वरूप क्या है ? और उसका आत्मा के साथ क्या भेद है ? पर मेरे कौन ? उस समय तो—

कुरंतिया के अशुचि तन में, काम रंगों रति करै ।

बहु मृतक मढ़हि मसान, माहीं काक ज्यों चोचि भरै ॥

इस तरह के निराशरीर में किसी तरह की आसक्ति का न होना ब्रह्मचर्य है। अथवा इन कामनाओं से रहित होकर आत्म-

स्वभावा से लीन होना ब्रह्मचर्य है। ये ही दश धर्म आत्मा के स्वभावा हैं।

जिन कौन हैं ?

इसीलिये जिन बनने को जितेन्द्रा, संयमी और परम शान्त होने की आवश्यकता है। जिन्होंने अपने ज्ञान, वैराग्य और त्याग से आत्म स्वरूप को पा लिया, वही जिन कहाने लगे और उन्होंने हमों का जीतने का अनुभूत मार्ग बनाया, वही जिन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिन किमा व्यक्ति विशेष का नाम नहीं। जो आत्मा अपना पूर्ण विकास कर लेगा, वही जिन बन जायगा। जैन धर्मानुसार वही भगवान हैं और वही परमात्मा हैं। परमात्मा बनने के पहले पांच अवस्थाएँ जीब हो जाना हैं।

पंचपरमेष्ठी

१-साधु—ससार के माया, ममता त्याग कर पा-मनाधन में जुट जानेवाले महापुरुष को साधु कहते हैं।

२-उपाध्याय—संयमी जीवन में तत्त्वों का मनन करना-कराना, ध्यान का अभ्यास करना-काना, सयम का प्रगल्भ पालन करना और उनका ज्ञान साधुओं को कराना।

३-आचार्य—संयमी होकर साधु संघ में सयम की मर्यादा सुरक्षित रखना, संघ के साधुओं के आचरण में आपत्ति दोषों का निराकरण करना एवं संघ को पूर्ण सयम पालक बनाना।

४-अरहंत या जिन—पूर्ण ज्ञान का विकास हो जाने से सबज्ञ-सर्वदर्शी आत्मा का निज स्वभाव प्रकट हो जाता है। तब ससार के पदार्थ उनके अविमलज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और उनका प्रतिगहन अरहन्त के द्वारा स्वभावतया होने लगता है, जिससे ससार के जीव तत्त्वज्ञान का रहस्य जान जाते

हैं। जब तक शरीर का सम्बन्ध रहता है, तब तक वे जीवन-मुक्त कहलाते हैं।

५-जब शरीर का सम्बन्ध छूट जाता है, तब सिद्ध-हो जाते हैं। सिद्ध होने बाद के उनका समास से कोई सम्बन्ध नहीं रहता इसीलिए उन्हें मुक्त कहते हैं। अरहन्त और सिद्ध ही मुक्त कहलाते हैं। जैनधर्म मुक्त जीवन का संसार में फिर से बापिस लौटना नहीं मानते। क्योंकि संसार में परिभ्रमण करानेवाला कर्म-पटल सिद्धों को कभी नहीं दबा सकता। वह कर्मों से सर्वदा मुक्त है।

जिन की उपासना

अब प्रश्न यह होता है कि जैन-धर्म जब कि जिन की रागद्वेष रहित वातराग और मर्जित मानता है और यह भी मानता है कि हमारी उपासना से प्रसन्न होकर वे हमको दयाकर कुछ नहीं देते। न देने लेने का उनका स्वभाव ही है, तब उनका उपासना या पूजा, भक्ति, स्तवन आदि क्यों किया जाता है? इसका उत्तर एक प्रधान महर्षि ने इसप्रकार दिया है:—

न स्नेहाच्छरणां प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजा ।

हेतुस्तत्र विचित्र दुःखनिचयः संसार घोरार्णवः ॥

अत्यन्त स्फुर दुःखशिम निकरः व्याकीर्ण भूमंडलः ।

ग्रंथः कायर्तान्दु पाद मलिल ह्यायानुराग रविः ॥

—दशभक्तिः

हे भगवान् संसार के जाल आपके चरणों में न तो किसी ग्रेह से आते हैं और न निर्मा दबाव से ही। दरअसल उनके आने का कारण यह है कि संसार के राग-शाक, आधि-व्याधि

से जब वे सताए जाते हैं और संसार में जब उन्हें कहीं शान्ति नहीं मिलती, तभी आपके पास दौड़े चले आते हैं, जैसे ग्रीष्म-काल के प्रचण्ड सूर्य-किरणों के ताप से सताए प्राणी चन्द्रमा की शीतल किरणों में दौड़े चले जाते हैं। अब आप सोचें चन्द्रमा उन्हें क्या दे देता है ? किन्तु चन्द्र के आश्रय में पहुँच कर जिस प्रकार उन्हें शान्ति मिलती है, उसी प्रकार आपके चरणों में उन्हें भारी शान्ति मिलती है। क्योंकि चन्द्रमा की तरह आपकी स्वाभाविक मुद्रा भी शान्तिमय किरणों से व्याप्त है। वहाँ सांसारिक आधि व्याधि अपना प्रभाव नहीं दिख सकती। इसलिये जब तक आप जीवन्मुक्त अवस्था में विराजमान रहे, तब तक तो संसार-दावानल तप्त प्राणियों ने साक्षात् आपका आश्रय लिया और जब आपका काल दाय से आश्रय न मिला, तब आपकी प्रतिमा या आश्रय लेने लगे। यही आशय जैनियों की प्रतिमा पूजन का है। चूंकि जैन धर्म निमृतिपरक-त्याग को मुख्यता आत्मधर्म का प्राप्ति में मानता है। इसलिये उसका आदर्श उत्कृष्ट त्यागमय होना चाहिये। इसलिये जैन धर्म ने अपने जिन देव का स्वरूप निर्विकार मनुष्य अतन्द्रित निलेप माना है। अपरिग्रहवादी जैनियों का मुख्य सिद्धान्त है। क्योंकि परिग्रह, माया, ममता का प्रधान कारण है। बीतराग से माया-ममता का लेश भी नहीं रहता इसलिये जीवन्मुक्त अवस्था में जिस प्रकार परम शान्त सांसारिक वासनाओं से सर्वथा परे निलेप उनकी रूपरेखा होती है, उसी तरह आज उनकी प्रतिमा बनाकर पूजा के योग्य मानी जाती है। क्योंकि हमको सांसारिक भ्रमों से दूर होना है, इसलिये हमारा आदर्श भी वही होना चाहिये। जो रूप हमको परम शान्त और अमिट सुख का केन्द्र बनाने में साधक तप हो। इसी गर्ज से हमारा

पूजा त्यागमय होती है। हम पूजन की प्रत्येक सामग्री को 'निर्वोपामि' त्याग करते हैं। इस भावना से देव के सामने रखते हैं और उसमें पुनः आमक्ति न हो। यह भावना हृदय में अंकित करने हैं, जिससे हमारा अनादि कालीन मोहमयक्त पदार्थों में पुनः जाग्रत्क न हो। यही हमारी पूजा का प्रधान लक्ष्य है।

सभी तीर्थङ्गों की प्रतिमा एक-सी क्यों होती हैं ?

प्रत्येक ब्रह्मी आत्मा ने परम शान्त अवस्था धारण कर ही आत्म बिक्रम पाया है। क्योंकि कर्म पटल बिना वीतरागता निःप्रहिता और परम शान्त अवस्था प्राप्त किए बिना आत्मा से दूर नहीं हो सकता। जब तक पूर्ण क्षमता प्राप्त न हो जावे, कोई आत्मा जीवन्मुक्त हो नहीं सकता, न अग्रहन्त या जिन बन सकता है, तब जिन अवस्था जिस मुद्रा में प्राप्त होती है, वही जिन लिंग है और जिन लिंग-जिन का वेप विन्यास हर समय हर काल और देश में एक सा हो होगा अन्यथा या अन्य प्रकार नहीं हो सकता। इसलिए जिन प्रतिमाएँ सदा एक-सी होती हैं, जिससे पूजनेवालों या जिनत्व प्राप्त करने की चेष्टा करनेवालों को सामने एक ही आदर्श रहे और जिसमें वे अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

जैन-धर्म का आद्य स्थापक कौन है ?

जबकि आपकी आत्मा अनादि से कर्म-ज्ञान के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार के त्रास पा रही है, तब यह पृथक् स्वयं ही हल हो जाता है कि आपका आत्मा में अनादि से ही चेतना-ज्ञानने और देखने की तात्त्विकार्थ, पर वह बाहरी कारण कर्मों से विकार-युक्त थी; पर आपका नित्य स्वभाव अनादि

है उसे किमी ने बनाया नहीं। ईश्वर की तरह आत्मा भी अनादि है और जब आत्मा अनादि है, तो उसका धर्म आदि कैसे हो सकता है। क्योंकि आत्मा धर्मी है और चेतन्य उसका धर्म है। जैसे अग्नि धर्मी है और उष्णता उसका धर्म है। अग्नि में उष्णता कब किमने लाकर दी ? चाँदी में श्वेत रूप किसने भर दिया, जिस तरह उजेला या प्रकाश अनादि है, उसी प्रकार अन्धकार भी अनादि है। इसी प्रकार संसार में जितने पदार्थ आप देख रहे हैं, वे और उनमें रहनेवाले सभी गुण या धर्म भी अनादि से हैं। हाँ, यह बात तो अवश्य है कि जिन द्रव्यों में जो-जो गुणधर्म हैं, उनका ज्ञान सभी मनुष्यों या प्राणियों को नहीं होता। इसलिये उन गुणधर्मों के जानकार उन द्रव्यों का स्वरूप उस विषय के अज्ञानियों को समझते हैं। पर इसका यह मतलब कभी नहीं होता कि उस विशेषज्ञ ने उन पदार्थों में गुण धर्म पंदा कर दिया है। क्योंकि सभी द्रव्य और गुणधर्म अनादि हैं और अनादि से ही इनके जानकार संसार में मौजूद हैं। इसलिये यह कैसे माना जाय कि जैनधर्म का आद्य स्थापक अमुक महपि या महात्मा हैं। जबकि जैन धर्म आत्म धर्म है, जिसका स्पष्ट अर्थ होता है वस्तुओं में रहनेवाले गुण-धर्मों का ज्ञान करनेवाला धर्म, तब यह बात निश्चिन्त हो जाती है कि इस धर्म का आद्य प्रकाशक भी अनादि कालीन है, पर स्थापक कोई नहीं है। हाँ, यह बात तो अवश्य है कि समय-समय पर जिन आत्माओं ने अपना पूर्ण विकास कर लिया और सर्वज्ञता पाकर जिन या अरहन्त हो गए, वे ही अपने समय के प्रकाशक कहलाए अर्थात् उन्होंने जैन-धर्म का अनादि सिद्धान्त दुनियाँ के सामने रक्खा। इस तरह के महापुरुषों में जो विशेष प्रतिभा-तत्पन्न हुए वे तीर्थङ्कर कहलाये।

इस तरह के २४ तीर्थंकर इस जमाने में हुए और सबसे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी हुए हैं और चतुर्थ युग के आरम्भ में आद्य तीर्थंकर श्रीऋषभनाथजी हुए हैं ।

जैन संस्कृति क्या है ?

यही पृथक् अत्यन्त महत्व का है, जिसपर गंभीरता से विचार करना चाहिए । संस्कृति-संस्कार को कहते हैं । संस्कार से ही जीवन बनता-बिगड़ता है । इसलिये भारत के सभी धर्मों ने अपने-अपने दृष्टिकोण को मढ़े नजर रखकर अपनी-अपनी संस्कृति सृजन परिवर्द्धन और पंचार की रूपरेखा का जीता-जागता चित्र खींचा है । क्योंकि प्रत्येक धर्म का पंचार उसकी संस्कृति की महत्मीयता पर निर्भर है । जैन-धर्म ने अपनी संस्कृति के रेखाचित्र बनाने के पृष्ठ रङ्गमञ्च तैयार किया और बाद उसपर अपना नक्शा बनाया । यही कारण है कि अनादि काल से अज्ञान नक़्शेवाले विरोधों हमलों को सहकर भी अपना नक्शा धूमिल भी न होने दिया, क्योंकि जैन-धर्म की भूमिका इतनी दृढ़ थी कि उसपर से नक्शा मिटाया न जा सका ।

जैन धर्म ने आत्म-विकसम करनेवालों को हिंसा, भूठ, चोरा, कुशील, परिग्रह इन पांच पापों से बचाया है, जिनसे मानव समाज का व्यवहार सम्बोधित नहीं रहता तथा सम्बोधित गुणों का मानव में विकास नहीं होने पाता । एवं मत्त-शराब, मत्त-शहद, मांस-दो इन्द्रियों से (के शरीर) लेकर पंचेन्द्रियों के शरीर का त्याग करने का व्यवस्था नहीं है, जिससे मानव समाज में मानविक गुण का पूर्ण विकास हो सके । यही कारण है कि जैन धर्म अहिंसा प्रधानी धर्म आज भी संसार के धर्मों में गिना जाता है । श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदय

ने बड़ौदा में अपने भाषण में कहा था कि "सबसे पुराना अहिंसा का पाठ जैन धर्म ने ही भारत को पढ़ाया था। यहाँ तक कि वेदों पर भी जैनधर्म की अहिंसा की छाप पड़ी थी।"

विश्वनिर्माण में जैन-संस्कृति से क्या सहायता मिल सकती है ?

जैन धर्म चूँकि प्रत्येक आत्मा के चरम सीमा के विकास का सिद्धान्त मानता है। अतः अग्नित्त विश्व के प्राणा प्रत्येक आत्मा के मित्र हैं और सिद्धान्त की दृष्टि से अग्नित्त विश्व के प्राणा जैन-धर्म के सिद्धान्त पालने के अधिकारी हैं। अतः सबके साथ हमारा बन्धुत्व का नाता वेगोंक टाक बन सकता है। क्योंकि जैनधर्म छोटो-से-छोटो प्राणा का नष्ट करने या दुःख पहुँचाने की आज्ञा नहीं देता। तब हमारा विश्व में कोई शत्रु नहीं रह जाता। हमारी संस्कृति हमका भय नगरिक बनाती है। अतः हम समाज के किसी भी प्राणी का मन एवं विना अपना व्यवहार निर्बाध कर सकते हैं। यही कारण है कि १५० वर्ष के इङ्गलिश राज्यकाल में पुलिस या कारागारों की रिपोर्ट में आप जैन मुलजिमी की संख्या नाम मात्र की ही पावेंगे। क्योंकि जैन लोग आठ पापों से तो सिद्धान्तन बचने की जी भर चेष्टा जन्म से ही करते हैं। इमलिये उनसे समाज को अच्छे दशापारी, धनार्थ और व्यवहार कुशल प्राप्त होते हैं।

कारागार में जाने योग्य अपराध स्वाभाविक संस्कृति से ही नहीं बन पड़ते और यही कारण है कि हम जनों में दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि आज तक क इतिहास में कोई यह नहीं साबित कर सकता कि जैन-धर्म के प्रचार में कभी तनवार

या अभ्य शस्त्र से काम लिया गया हो या बलपूर्वक किसी दीन या समर्थ को जैन बनाया गया हो; क्योंकि जैन धर्म का प्रधान अङ्ग अहिंसा है।

अहिंसा का स्वरूप

यतबलु कवाय यांगात् प्राणानां द्रव्य भव रूपाणाम् ।
व्यपगोपणस्य कणां मुनिश्चिता भयति सा हिंसा ॥

—पु० सि० श्री अमृतचन्द्र मूर्ति

क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों से या मोहादि मै मन, वचन, काया में जो चञ्चलता आती है, उससे अपने या दूसरे प्राणियों के द्रव्य प्राणों का या भाव प्राणों का घात करना, या घात करने का इरादा करना निश्चय से हिंसा है।

द्रव्यप्राण—पंच इन्द्रिय १—स्पर्श २—रसना ३—घ्राण ४—चक्षु ५—श्रोत्र-मानसल ६—मनोबल ७—वचनबल ८—कायबल ९ स्वात्मोच्छ्वास १०—आयुः—ये दश हैं।

भावप्राण—नमन् आवरण कर्म के ज्ञेयोपशमादि से जोष में जीवि अपने का व्यवहार हो उसे भावप्राण कहते हैं।

अपादुर्भावः खलु रागादीनां भवन्त्यहिंसेति ।

नेवापेवोपनिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

—पु० सि० श्री अमृतचन्द्र मूर्ति

अमर्त्ता जान तो यह है कि आत्मा में अपने या दूसरे को मताने के लिये रागद्वेष न होना ही अहिंसा है और रागद्वेष

होना ही हिंसा है। यही जैनधर्म की हिंसा या अहिंसा की स्पष्ट परिभाषा या रूपरेखा है। चाहे जीव मरें या न मरें यदि मारने के परिणाम हो गये, तो रागद्वेष की सत्ता होने से आत्म परिणामों में विचार आ ही गया। इसलिये हिंसा से बच नहीं सकते और यदि परिणामों में कोई विचार नहीं हुआ और मार्ग चलते गये किसी चीज को सावधानी से धरते-उठाते जीव बच भी हो जावे तो रागद्वेष भावों के अभाव से हिंसा नहीं होगी।

जैन-धर्म ने विचारधारा को दूषित न होने का ही आत्म-प्रतिष्ठा माना है। विचारों में कलुषता आने से ही स्वरूप न्युत आत्मा हो जाता है और तभी वह बहकने लगता है। अतः नानाप्रकार के अनर्थों की ओर उसका झुकाव हो जाता है। तभी हिंसादि पंच पाप या तीन मकार—मद्य, मांस, मधु का सेवनकर सांसारिक विषय-वासना में उलभ जाता है और यही उसके ससारबन्धन का कारण है। अतः एक मनीषी विद्वान् ने कहा है कि:—

भावां हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।

तद्दृश्यन्तं ततो रक्षेत् धरिः समय भक्तिः ॥

अर्थात् आत्मा के परिणाम—विचारधारा पुण्य-पाप के कारण हैं। अतः सचेता प्राणी को मदा अपने विचारधारा को पवित्र बनाए रखने का चेष्टा करना चाहिए।

इस कथन का स्पष्ट आशय यह है कि जब तक भावहिंसा-विचारों में अपने या दूसरों के मताने या मारने का अभिप्राय न होगा। हम द्रव्यहिंसा—किसी का या अपना घात नहीं कर सकते और विचारधारा दूषित होने का नाम ही रागद्वेष या

प्रमाद है और "प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा"—इमाश्वरमि
प्रमाद के योग से प्राणीमात्र को कष्ट देना हिंसा है ।

आत्मा और परमात्मा की परिभाषा

आत्मा—जिसका ज्ञान दर्शन स्वभाव हो, आदि अन्त रहित हो, अमूर्ति-रूप रस, गंध, स्पर्श रहित हो और उग्राद व्यय ध्रौव्य युक्त, अस्तिव वस्तुत्वादि अनन्त धर्मों का स्वामी हो, उसे जीव या आत्मा कहते हैं । किन्तु अनादि काल से जीव के साथ जड़स्वभाव पुद्गल-अचेतन द्वय का सम्बन्ध है । इसलिये उसका निजरूप के विकास में ऐसा अन्तर आ गया है कि सामान्य ज्ञानवाले मानव-समाज को उसकी अमलियत का पता नहीं चलता कि जीव कैसा है ? और उसका कैसे पहिचाना जाय । इसलिये जैन दर्शनकारों ने उसके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये उसे तीन भागों में विभक्त कर उनके लक्षणों का अलग-अलग निरूपण किया है । यथा—बहिर्गात्मा, अन्तर्गात्मा, परमात्मा ।

बहिर्गात्मा—देह जीव को एक गिने, बहिर्गात्मा तत्त्व मुधा है जो शरीर के उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश होने पर अपना मरण मानता है, उसे बहिर्गात्मा कहते हैं ।

अनादि काल से कर्मों ने इस आत्मा पर अपना ऐसा प्रभाव जमा लिया है कि वह यह जग भी नहीं जान पाता कि मेरा असली रूप ज्ञान दर्शनमय है, मैं अमूर्त हूँ, कर्म जड़ है और इनकी नाना प्रकार की मूर्तियाँ, पशु, पक्षी, वृक्षादि रूप हम देखते हैं । ये उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती रहती हैं, पर आत्मा एक मकान से दूसरे मकान की तरह नानाप्रकार के शरीरों को बदलता रहता है । मकान के नष्ट हो जाने पर हमारा नाश जिस तरह नहीं होता, उसी तरह शरीर के नाश होने पर हमारा

नाश नहीं होता । किन्तु जैसे एक ही आत्मा बालक से युव और वृद्ध पर्यायें धारण करता है, उसी तरह मनुष्य शरीर से देव शरीर को भी बदल लेता है और यही आत्मा अनादि काल से करता चला आया है । इस विज्ञान को जो नहीं समझते, वह बहिरात्मा है और वे अपने स्वरूप के भूल जाने से जड़स्वभाव वाले माटा, पत्थर आदि खनिज पदार्थों को धन मानकर और मा पुत्रादि जोकि हमारे एक पर्याय के साथी हैं उनको अपना मानते हैं और उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करते हैं । इसलिये उसका ज्ञान बहक जाता है और उसी अज्ञान भाव से वह संसार की माया, ममता में लीन रहते हैं ।

अन्तरात्मा—जिन्होंने अपने स्वरूप को समझ लिया है और जड़-शरीरादि को अपने आत्मा स्वभाव से भिन्न अनुभव कर लिया हो, वे अन्तरात्मा हैं, उनके उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा, जघन्य अन्तरात्मा—य तीन भेद हैं ।

उत्तम अन्तरात्मा—द्विविध संगविन गुण उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी—अन्तरंग परिग्रह—ममता रागद्वेष से पर पदार्थों का अपना मानना—बहिरंग परिग्रह—धन, धन्य, दाम्पत्य आदि के संयोग-वियोग में या शिष्यादि के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद मानना इन दोनों तरह के परिग्रह से रहित शुद्ध आत्मा के उपयोग में निरन्तर मग्न रहनेवाले और आत्मिक ध्यान से कर्मों का नष्ट करनेवाले मुनि-महर्षि उत्तम अन्तरात्मा हैं ।

मध्यम अन्तरात्मा—"मध्यम अन्तर आत्मा हैं जे देशवृत्त आनारी"—अहिमादि पांच पापों को आंशिक पालनेवाले, मद्य, मांस, मदिरा के त्यागी और आँच इन्द्रिय और मन को अपने

वश में करने के लिये नैष्ठिक भावक के कृत्यों को पूर्ण भद्रा से ज्ञान-पूर्वक आचरण करनेवाले मध्यम अन्तरात्मा हैं। इनकी आत्मा में आत्मा का अनुभव तो हो ही जाता है, पर अपनी अनादि कालीन आदत से लाचार होकर आत्मा के शुद्ध अनुभव करने में असमर्थ हैं, एवं दोनों प्रकार के परिग्रहों को सर्वथा छोड़ने में भी असमर्थ हैं, इसलिये गृहस्थ जीवन में रहकर जितना हो सकता है, कम परिग्रह रखते हैं और पंचेन्द्रियों के विषयों की, अपने जाने-जानेवाले क्षेत्र की, धन-धान्य, दास-दामी आदि की अपनी सुविधानुसार मर्यादा कर लेते हैं और धीरे-धीरे अपनी शक्ति को बढ़ाकर अपने संयम को बढ़ाते चले जाते हैं। अपने उपयोग और आचार को खराब नहीं होने देते। इस तरह अपनी इन्द्रियादि के निग्रह से आत्म स्वरूप को विकसित कर कर्मों के दृढ़ बन्धन को ढीला करने का सतत प्रयास करते हैं।

जघन्य अन्तरात्मा—“जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिव मग चारी”—जिनकी आत्मा ने अपने स्वरूप का अनुभव तो कर लिया है पर अनादि-कालीन कर्म के प्रभाव से साधारण आचार पालने में भी असमर्थ हैं। वे जीव यह तो पूर्णतया जानते हैं कि जब तक मैं अपनी इन्द्रियों और मन को सांसारिक विषयों से न हटाऊँगा, तब तक मुझे वास्तविक शान्ति न मिलेगी और उनका यही सच्चा विश्वास है पर वे मोहनीय जामा कर्म के दबाव में आकर यूनादि करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसलिये ही उनका नाम जघन्य अन्तरात्मा या अविरत सम्यग्दृष्टि है। ये तीनों—उत्तम, मध्यम, जघन्य—अन्तरात्मा मोक्ष मार्ग में लगे हुए हैं। क्योंकि उनको आत्मा के असली रूप का अनुभव हो गया है।

परमात्मा—जिनकी आत्मा में ज्ञान, दर्शन, स्वभाव का पूर्ण विकास हो गया हो और संसार के चर-अचर पदार्थ स्पष्ट देखने लगे हों, एवं जिनका ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, अनन्त हो गया हो, वे परमात्मा हैं। उनमें जो शरीर के आश्रय रहकर संसारी आत्माओं को पदार्थों में रहनेवाले गुणधर्मों का व्याख्यान करनेवाले जीबन्मुक्त या सकल परमात्मा भगवान् ऋषभदेव, रामचन्द्र, हनुमान आदि इन्हीं को अरहन्त या जिन कहते हैं।

और जो संसार से सम्बन्ध-त्याग कर भौतिक शरीर को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थिर हो लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो गये हों, वे सिद्ध परमात्मा हैं।



Printed and published by Girja Shankar Mehta
(S. S. Mehta and Bros ;
at the Mehta Fine Art Press, Benars

